इतिहास पुरुष

देवराज

भारतीय ज्ञानपीठ
प्रकाशन

इतिहास-पुरुष

तथा अन्य कविताएँ

*

देवराज



भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

ज्ञानपीठ लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक–२२०

सम्पादक एवं नियामक :
लक्ष्मीचन्द्र जैन

Lokodaya Series : Title No. 220
ITIHAS-PURUSH
(Poems)
Dr. DEVRAJ
Published by
BHARATIYA JNANPITH
First Edition 1965
Price Rs. 3.50

प्रकाशन
प्रधान कार्यालय
९, अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता-२७
प्रकाशन कार्यालय
दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५
विक्रय केन्द्र
३६२०।२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६
प्रथम संस्करण १९६५
मूल्य ३.५०

सन्मति मुद्रणालय, वाराणसी-५

मानववादी मनीषी
और नीतिवेत्ता
स्व० आचार्य नरेन्द्रदेव को

सद्यः परिनिर्वृतये

—मम्मट

देन अगेन देयर इज़ ए सैन्स इन ह्विच नथिङ् मैटर्स बट सब्जेक्ट मैटर. आइ सस्पेक्ट दैट बोथ दान्ते ऐण्ड मिल्टन ऐण्ड परहैप्स शेक्सपियर ट्वाइल्ड थ्रू लाइब्रेरीज़ ऑव् वर्क्स विद द कॉन्शस परपज़ ऑव् लर्निङ् टु थिंक पोएटिकली.

—वि० ब० येट्स (मंक गिबनको लिखित एक पत्र में)

...पोएट्री दैट इज़ गुड ऑव् इट्स काइण्ड, ऐण्ड दैट इज़ दी ओनली सॉर्ट ऑव् गुड पोएट्री देयर इज़ : देयर इज़ नो काइण्ड प्लेनली डिफ़रैण्ट फ्रॉम, ऐण्ड प्लेनली सुपीरियर टु, ऑल द रैस्ट.

—रैण्डल जैरेल ("पोएट्री ऐण्ड दी एज", फ़ेबर प्रकाशन में)

निवेदन

•

कुछ वर्ष पूर्व अँगरेज़ी 'पार्नासस' पुस्तक, जिसमें तरह-तरहकी—कथात्मक, चिन्तनात्मक, व्यंग्यमूलक, शिक्षापरक आदि—मुख्यतः लम्बी कविताओंका संकलन है, देखकर यह भावना हुई थी कि उस कोटिके कुछ प्रयास किये जायें। 'पार्नासस' में संगृहीत कृतियोंमें समय, भाषा, शैली आदिकी बड़ी विविधता है; समानता एक ही है – वे सब अपने-अपने ढंगसे सुसंगठित एवं कथ्य तथा शैलीकी दृष्टिसे प्रौढ़ रचनाएँ हैं। उक्त भावना या विचारने, कुछ दूसरी प्रेरणाओंके साथ मिलकर, मुझे 'इतिहास-पुरुष' लिखनेकी ओर उन्मुख किया। यह छोटा-सा काव्य सन् '६१ और '६२ की गरमीकी छुट्टियोंमें लिखा गया; 'नूरजहाँ' जून '६४ में, और 'क्लिओपेट्राका पत्र' सम्भवतः जनवरी '६३ में।

प्रस्तुत लेखकको अपना समय, विश्वविद्यालयकी नौकरीके अलावा, साहित्य और दर्शनके बीच विभक्त करना पड़ता है; उसके शैलीकारका अवधान और शक्ति भी हिन्दी-अँगरेज़ीके बीच बँट जाती है। इस जीवनमें इन द्वन्द्वोंकी स्थितिसे मुक्तिका कोई रास्ता नहीं दीखता।

लेकिन मेरे साहित्यमें मेरा दर्शन दोहराया जाता हो, ऐसा अनुभव मुझे नहीं है। 'संस्कृतिका दार्शनिक विवेचन' पहले लिखा गया था, और लम्बे-चौड़े चिन्तनके बाद, किन्तु 'इतिहास-पुरुष' की केन्द्रगत दृष्टि वहाँसे उठायी गयी या उसका अनुवाद-मात्र नहीं है। सम्भवतः आगेकी किसी रचनामें वह दृष्टि अब इतने आटोप और सतर्कतासे जगह नहीं पायेगी। सच यह है कि साहित्यगत चिन्तनको उसके प्राणभूत ऐन्द्रिय-बोध एवं भाव-सामग्रीसे जुदा नहीं किया जा सकता। यों किसी भी ईमानदार एवं व्यक्तित्व-सम्पन्न लेखककी विविध रचनाओंमें मौलिक एकता–विकासमान एकसूत्रता–प्रतिफलित होनी ही चाहिए।

इस काव्यको लिखते-दोहराते हुए मैंने अनेक अवसरोंपर, आश्चर्य और खेदके साथ, तीखे रूपमें अनुभव किया है कि एक छोटी-सी कृतिको

भी निर्दोष, सर्वांशमें ग्राह्य रूप देना कितना कठिन कार्य है; ऐसे अवसरोंपर मुझे 'मेघदूत'-जैसी कृतियोंके रचयिताओंसे सहज ही ईर्ष्या महसूस हुई है। शायद उसी अनुपातमें उनके प्रति आदरका भाव, और अधिक सचेत व परिश्रमशील होनेका संकल्प, भी दृढ़ हुआ है।

हिन्दीके साहित्य-प्रेमियोंके बीच प्रस्तुत लेखक अपनी क्लासिसिज़्म-क्लासिकी (श्रेण्य) लेखकोंके पक्षपात – के लिए ख्यात या बदनाम है, पर इसमें सन्देह है कि उसकी क्लासिकीयताकी धारणा भी उतनी ही सुविदित है। मेरी उक्त धारणाका क्लासिक-रोमैण्टिकके ऐतिहासिक झगड़ेसे विशेष लगाव नहीं है। मेरी दृष्टिसे क्लासिक कोटिकी कृति वह है जिसमें (१) एक प्रकारकी पूर्णता, भावोंका पूरा परिपाक (लीविसके शब्दोंमें 'रिअलाइज़ेशन') और अभिव्यक्तिगत प्रौढ़ता तथा (२) रागतत्त्व और बोधतत्त्व (विभावों, इलियटके सह-अपेक्षी वस्तु-विन्यास) की समशक्तिता या आन्तरिक सामंजस्य हो। मैं यह भी मानता हूँ कि अच्छा और प्राणवान् साहित्य रोचक या अर्थपूर्ण सन्दर्भोंके निर्माणमें ही अस्तित्व लाभ करता है। ऐसे सन्दर्भोंका निर्माण रचनाकारमें सशक्त नियन्त्रक बुद्धिके अलावा उन वृत्तियोंकी अपेक्षा करता है जिन्हें इधरके समीक्षक-विचारकोंने संसक्ति (इन्वॉल्वमेण्ट) और प्रतिबद्धता (कॅमिटमेण्ट) की आख्याएँ दी हैं। (संसक्तिसे मैं समझता हूँ जीवन और उसके मूल्योंमें गहरी, जीवन्त अभिरुचि; प्रतिबद्धतासे मतलब है देखे हुए मूल्योंके प्रभावपूर्ण उल्लेख और उन्हें सामाजिकों अथवा सहधर्मियोंके द्वारा ग्राह्य बनानेके लिए बेचैनी। प्रतिबद्ध होनेका अर्थ आवश्यक रूपमें बहिर्मुख, अथवा स्थूल रूपमें कर्मठ, होना नहीं है।) इन वृत्तियोंकी अपेक्षा दो कारणोंसे है : एक, संसक्त और प्रतिबद्ध कलाकार ही जीवन-अनुभूतिके विभिन्न आयामोंसे, सामान्य (नॉर्मल) संवेदनाके धरातलपर, साक्षात् परिचय कर पाता है; इस परिचयमें ही उस भावबोधके तत्त्व निहित रहते हैं जो साहित्यगत चेतनाका ग्रथन करते हैं। उदाहरण : जिस व्यक्तिने कभी मन-प्राणसे प्रेम किया है, वही सफल और समृद्ध प्रेम-काव्य लिख सकता है; और जिसने निर्णय और कर्मके विविध अवसरोंपर नैतिक द्वन्द्वोंको अपने रक्तमें जाना-सहा है, वही उन्हें तीखी साहित्यिक अभिव्यक्ति दे सकता है। एक सच्चे व गहरे अर्थमें देशप्रेमी कवि ही देशको लेकर अर्थ-सम्पन्न रचनाएँ प्रस्तुत कर सकता है। निष्कर्ष यह कि समृद्ध जीवन-संसक्ति (फिर भले ही वह मात्र सशक्त कल्पनाके धरातल-

पर हो) सम्पन्न साहित्य-सृजनकी आवश्यक शर्त है। मूल्योंके विघटनकी चेतना वहींतक लेखककी रचनाको समृद्ध करती है, जहाँतक उसका उदय जीवनके विस्तृत व सार्थक उपभोगकी माँगमें होता है। दूसरे, जहाँ लेखककी संसक्ति उसके कृतित्वको आन्तरिक ऐक्य देती है, वहाँ प्रतिबद्धताका आवेग उसे अधिक सृजनशील बनाता है, और उसकी रचनाको अधिक शक्तिपूर्ण। कहनेकी ज़रूरत नहीं कि रचनाकी दृष्टिसे उपयोगी संसक्ति और प्रतिबद्धता लेखक-द्वारा उपार्जित दृष्टि व साक्षात्कारका परिणाम होती हैं—किसी बाहरी स्रोतसे पकड़ी हुई अमूर्त्त सिद्धान्तवादिता या कट्टरताका नहीं। यही कारण है कि साधनाशील लेखककी दृष्टिका प्रकाशन सहज ही उपयुक्त चित्र-सामग्री और भावबोधसे अलंकृत हो उठता है।

किसी भी उल्लेख्य लेखकपर उस समूचे अतीतका आभार रहता है जिससे आलाप-संलाप करते हुए उसकी चेतना गठित होती है। सचेत रूपमें, प्रस्तुत लेखक 'ग्राम्या' के पन्त और अज्ञेयकी भाषाका विशेष प्रशंसक रहा है; निश्चय ही वह अपने शब्दों-सम्बन्धी बोध और प्रयोगमें उनसे प्रभावित हुआ होगा। उसने 'कला और बूढ़ा चाँद' के शब्द-विन्यासकी अभूतपूर्व ताज़गीसे भी चकित और चमत्कृत महसूस किया था। इसके अलावा वह क्लासिकी संस्कृत साहित्य, उर्दू ग़ज़ल, कतिपय फ़्रान्सीसी (क्लासिकी) नाटककारों और कवियोंसे विशेष प्रेरणा लेता रहा है।

इतिहास-पुरुषके छन्दकी प्रेरणा सम्भवत: प्रथम 'तारसप्तक' में संगृहीत श्री प्रभाकर माचवेकी एक कविता ('नोन-तेल-लकड़ीकी फ़िक्र में लगे घुन से') से मिली थी, यों उक्त रचनामें प्रयुक्त छन्दके अनेक प्रतिभेद या उपरूप (वेरिएण्ट्स्) मिल सकेंगे, जैसे—

बाँधते न क्यों मन को दवा क्यों न कर पाते
(ऊब औ' उचाटों की)

का ध्वनि-संयोजन ज़िगरकी 'अब कहाँ ज़माने में दूसरा जवाब उनका' और ग़ालिब की 'हम कहाँ के दाना थे किस हुनर में यकता थे'* पंक्तियोंके

* मुझे उर्दू ग़ज़लकी भाषा और लहजा एक श्लाघनीय अर्थमें आधुनिक लगता है। नयी कविताकी उखड़ी-पुखड़ी नवीनताकी तुलनामें उसका अनुशासित, स्थिर आधुनिकताका स्वर मुझे अधिक भाता है।

ज़्यादा क़रीब है और 'सत-रज-तम तीनोंके रूप-गन्ध-रंग लिये' से काफ़ी भिन्न; यही बात अनेकविध दूसरी-चौथी पंक्तियोंपर भी लागू होगी।

ओवेन बारफ़ील्डने अपनी पुस्तक 'पोएटिक डिक्शन' में काव्यगत चेतनाकी अपरिचितता (स्ट्रैंजनेस) के महत्त्वपर विशेष गौरव दिया है। हमारा अनुमान है कि यह विशेषता पूरी-पूरी प्राचीनोंके 'चमत्कार' में अन्तर्भुक्त हो जाती है; इधरकी नयेपनकी माँग भी एक हद तक उसी चीज़की माँग है—चमत्कारकी। मेरा विचार है कि, विभिन्न स्थितियोंमें, उक्त विशेषताके अलग-अलग उपादान होते हैं—अनुप्रास, सटीक औचित्य, अर्थगौरव, अभिव्यक्तिका अप्रत्याशित संक्षेप और सघनता, चित्रसामग्रीकी आकर्षकता, आदि। इधर कहा गया है कि श्रेष्ठ रचनाकार शब्दोंके परम्पराभुक्त अर्थमें परिवर्तन उपस्थित करके अभ्यस्त प्रतिक्रिया (स्टॉक रेसपान्स) को निरुद्ध करता है; मेरे ख़यालमें यह निरोध समर्थ नये सन्दर्भ-द्वारा स्वतः उपपन्न हो जाता है। मैं यह भी स्वीकार नहीं करता कि नयेपन, चमत्कार या अपरिचितताकी संवेदना जगानेका कोई एक रूढ़ तरीक़ा होता है—जैसा कि कतिपय साहित्यिक निकाय प्रचारित करते हैं। ये निकाय साहित्यकी ऐतिहासिक विविधता और पुरानी कृतियोंकी सदाबहार आकर्षकताकी कोई संगत व्याख्या नहीं दे सकते। साथ ही यह देखा जाता है कि रूढ़ तरीक़ोंका सहारा लेनेवाले सम्प्रदायवादी लेखक प्रायः व्यक्तित्व-सम्पन्न नहीं हो पाते, वे युगीन काव्य-साहित्यमें एकरसताके प्रसारका उपकरण भी बन जाते हैं।

साहित्यके इतिहासका सबसे बड़ा आश्चर्य है—उसकी महनीय कृतियोंका कभी न चुकनेवाला आकर्षण। और यह आकर्षण तरह-तरहका होता है : चित्रसामग्रीका (नासा मोरि नचाय दृग); अनुप्रासका (करी कका की सौंह, काँटे-सी कसकति हिये वहै कटीली भौंह); सन्दर्भ-नियन्त्रित सटीक उक्तिका (पुनि आउब इहिं बिरियाँ काली, अस कह मन बिहँसी इक आली); अभिव्यक्तिकी जटिल या सघन पूर्णताका ('बृहद् जिह्म विश्लथ केंचुल-सा लगता चितकबरा गंगाजल'; अथवा 'जनमन में तुम कर सको वहन मेरे विचार'; अथवा 'आ गये प्रियंवद, केशकम्बली, गुफागेह'); और कभी-कभी एकदम सीधी स्वभावोक्ति(?) का (सूरदासको ठाकुर ठाड़ो हाथ लकुट लिए छोटी), इत्यादि। ऐसी स्थितिमें काव्यगत सौन्दर्यके किसी एक उपादानपर ऐकान्तिक ज़ोर देना – एकत्ववाद – मुझे पसन्द नहीं पड़ता। यह भी ठीक है कि महत्त्व-

पूर्ण नवीन लेखक इन उपादानों या तरीक़ोंमें अनजाने नये तत्त्व जोड़ते रहते हैं; अच्छे लेखक प्रायः एक साथ अनेक वैसे तत्त्वों, उपादानों या तरीक़ोंका उपयोग करते हैं।

इस संग्रहकी प्रायः सभी रचनाएँ सन् '६० के बादकी हैं, इसका एकमात्र अपवाद 'ऋष्य शृंग' है, जो सन् '४० के आसपास लिखी गयी थी। 'उर्वशीने कहा' में संकलित 'शिवका मत्स्याखेट' भी तभीकी रचना है। 'ऋष्य शृंग' वयःसन्धिके पाठकोंके लिए है, वैसे ही जैसे 'मत्स्याखेट' बाल-सुलभ कुतूहलवाले पाठकोंके लिए थी। यों मेरा विश्वास है कि अभ्यस्त साहित्यिक पाठक कभी इतना 'वृद्ध' नहीं होता कि उक्त धरातलोंपर संक्रमण न कर सके। मेरे विकासका आभास देनेके अतिरिक्त ये रचनाएँ एक दूसरी दृष्टिसे उपयोगी हो सकती हैं—साहित्य-चिन्तकों-द्वारा प्रौढ़ताकी दिशाओंकी खोज करनेमें।

अन्तमें, मैं आदरणीय कवि श्री सुमित्रानन्दन पन्तके प्रति, उनके द्वारा लिखे 'इतिहास-पुरुष' के प्राक्कथनके लिए, विशेष कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ। 'पल्लव-गुंजन', 'ग्राम्या' तथा 'कला और बूढ़ा चाँद'-जैसी कृतियोंमें हिन्दी काव्यभाषाको अनेक नये आयामोंसे परिचित करानेवाले उक्त कविको—जो, स्रष्टा-द्रष्टाके रूपमें, दो महत्त्वपूर्ण रचना-युगोंसे सम्बद्ध रहा है—इस संग्रहकी प्रमुख रचना प्रिय लगी यह मेरे लिए विशेष परितोषकी बात है। यों मैं पाठकोंको सूचित करूँ कि संकेताधीन रचना एक नयी दिशामें लेखकका पहला प्रयास है। उसे विश्वास है कि पन्तजी तथा दूसरोंका समुचित प्रोत्साहन उसके आगे आनेवाले प्रयत्नोंको अधिक आत्मविश्वास और सतर्क साहसका सम्बल देगा।

हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी
२६ अप्रैल १९६५

—देवराज

प्राक्कथन

●

'इतिहास-पुरुष' नयी कविताका एक उत्कृष्टतम काव्य है। लय-छन्दमें रचित, प्रगीतोंकी स्वर्णश्रृंखलामें गुम्फित यह लघु काव्य अपने सन्तुलित शिल्प तथा उर्वर आढ्य कथ्यके कारण नयी कविताके उन सभी दोषोंसे मुक्त है, जो उसमें बिखराव पैदा कर उसे मात्र एक खोखला अलंकरण बना देते हैं। ऐसी उच्च कोटिकी कृतिके सृजनके लिए सूक्ष्म कला-बोध तथा व्यापक जीवन अनुभूतिके अतिरिक्त इतिहास-दर्शन तथा विश्वके अन्तर्विधानमें गम्भीर मर्मभेदिनी दृष्टिकी भी आवश्यकता होती है जो डॉ० देवराजके पास प्रचुर मात्रामें वर्तमान है।

'इतिहास-पुरुष' तीन भागोंमें विभक्त है। पहला भाग है, 'परिचय' जिसमें इतिहास-पुरुष नाटकीय गरिमाके साथ अपने स्वरूपका परिचय देता है। इस खण्डमें कविने निर्जीव यान्त्रिक काल-संचरणको विश्वात्मा-का अमरत्व तथा जीवन चैतन्यका ऐश्वर्य प्रदान कर, उसके विभिन्न आयामोंको अत्यन्त सशक्त एवं कलात्मक ढंगसे चित्रित कर, लोकोत्तर चमत्कार पैदा कर दिया है। अपनी भूत-वर्तमानकी उपलब्धियों तथा भावी सम्भावनाओंका उद्घाटन इतिहास-पुरुष जिस कवित्वपूर्ण राजसी ढंगसे करता है, उसके गौरवसे अभिभूत मनको सचमुच ही निष्कल निष्प्रपंच, क्रिया-गुणोंसे वर्जित अशरीरी ब्रह्मकी कल्पना नीरस तथा निस्सार प्रतीत होने लगती है। निश्चय ही कविने अपनी अन्तःस्पर्शी प्रतिभा तथा विराट् ऋत कल्पनासे अमूर्त ब्रह्मको इतिहास-पुरुषके रूपमें लोकमंगलमय, जीवनमांसल रूप देकर, उसे सगुण, प्रगतिशील तथा भावमूर्त कर वैश्व सौन्दर्यसे मण्डित कर दिया है। ऐसा लगता है कि शतियोंकी सौ करोड़ शाखाओंमें बृहद् व्यापक इस विशाल वट पादपकी स्वप्न मौन छाँहमें खड़ा प्रबुद्धचेता रसवर्षी कवि विकासशील सृष्टि-तत्त्वका हस्तामलकवत् आर-पार निरीक्षण कर उसे जरारोगहीन अमर अनादि काल-विष्णुकी गहरी नाभि-गुहासे निकले सहस्रनेत्र ब्रह्मकमल-स्वरूप इतिहास-पुरुषके रूपमें प्रतिष्ठित कर रहा है, जिसमें केवल दिक्सर्जित

व्याप्ति ही नहीं उद्बुद्ध लोक-जीवनकी भावना-मनीषामें बहनेवाला अन्तर्लीन जाज्वल्यमय तेज भी है। निःसन्देह, इतिहास-पुरुषकी चेतनासे संयुक्त होकर ही मनुष्य जीवन तथा सृष्टिका अखण्ड प्रयोजन समझ सकता है, जैसा कि वह सृष्टिके सूत्रधारकी तरह प्रेरणाप्रद नाट्यभंगिमाके साथ स्वयं कहता है :

पल में बदल देता मैं अपने ध्याता के
देह प्राण, बुद्धि मन,
और आँख-कान, और हो जाते प्रीति-घृणा,
और-और हास-रुदन :
और-सी निगाहें, और दृष्टि, नयी भंगियाँ
....
मेरे उपासकों के चित्त में समा जाते
नये अर्थ बोध घने;—

वह क्षुद्र लघु मानवकी कुण्ठाग्रस्त, काल-विषण्ण चेतनामें नवीन जीवन-बोधका ज्वार उठाकर जैसे उसका सर्वांगीण रूपान्तर कर देता है। इन प्रथम सात गीतोंमें डॉ० देवराज काल तथा जीवनकी अत्यन्त गम्भीर एवं जटिल सरणिको सर्वांगपूर्ण कलात्मक अभिव्यंजना देनेमें सफल हुए हैं।

द्वितीय खण्डमें कवि जगत्-जीवनका 'द्वन्द्वबोध' देता है। यह खण्ड अत्यन्त प्राणवान्, सौन्दर्य-मांसल तथा जीवन-वैचित्र्यपूर्ण बन पड़ा है। कवि मानवसे पूछता है कि वह इतने बड़े 'विविध वर्णगन्धभरे भूमिके पड़ावों में, देश कालके शब्दित चौड़े फैलावों में' आज अपनेको क्यों उदास और अकेला अनुभव करता है? वह अपनी शब्द-तूलिसे जहाँ एक ओर धरती तथा मानव-जीवनके अनेक सौन्दर्य उल्लास-भरे चित्र उपस्थित करता है और इसी सिलसिलेमें ऋतुओंकी बहार, ऊँचे शैल-शिखरोंकी शोभा-गरिमा, शैशव-यौवनकी नयी पीढ़ियोंकी क्रीड़ा-किलोलें, स्त्रीका आत्म-विस्मृत कर देनेवाला, अन्तस्में नये-नये भावबोध आँकनेवाला लावण्य, सिने-कलाकारोंकी नित्य नवीन भंगियाँ और योगियोंके समान एकाग्रचित्त, सतत नये-नये प्रयोगोंमें निरत उदारमना वैज्ञानिकोंका युगदान—रेडियो, वायुयानोंकी सुविधाओं आदिका—सौष्ठवपूर्ण वर्णन करता है, वहाँ दूसरी ओर मन्त्रियों, डिप्लोमेटों, राजदूतों, डायरेक्टरों आदिकी रोबीली वेश-भूषा, सधी बातें, मँजी मुसकानें – आजके शुकपन्थी मार्क्स, सार्त्र, इलियटके भक्तों, बुद्धिजीवियों और आजकी मूल्य-सूनी दुनियामें भय, संशय, नास्ति-भाव पीड़ित, तथ्यग्रस्त, वस्तुव्रती भौतिक सामाजिक

शास्त्रोंके अहम्मन्य पण्डितोंकी चर्चा कर युगजीवनकी दयनीय विकृतियों-पर भी निर्मम व्यंग्य प्रहार करनेमें नहीं चूकता। किन्तु इन सदसत, सुन्दर-असुन्दरके द्वन्द्वोंके भीतर क्रान्तदृष्टि कविको मानव-जीवनकी सार्थकता नहीं दिखाई देती। उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि युगजीवनके इस धूल-धुन्धके पार देखनेकी भी क्षमता रखती है। कविके व्यापक दृष्टिकोणको वाणी देते हुए इतिहास-पुरुष कहता है—

तेरी सब व्याधियों का
ओ मानव ! एकमात्र मैं ही निदान, भिषक्
मैं ही औषध तेरी,
मति तेरी, गति तेरी, धर्म कर्म सब तेरा…
…मेरी ही गोद में
तेरे मन बुद्धि अहम्
उगते पनपते हैं, उड़ते संकल्पों में
मेरे ही तेज क़दम;

इसमें सन्देह नहीं कि इस बहुमुण्ड विभक्त क्षणत्रस्त खण्ड जीवनकी सार्थकता तथा सत्यता हमें उसे इतिहासकी पृष्ठभूमिके अखण्ड काल-प्रवाहसे संयुक्त करने ही से उपलब्ध होती है। नवीन भाव-गर्भित काव्यात्मक वाग्बन्धों तथा रूपकोंका सृजन करनेमें तथा नये-नये रूप-रंग-ध्वनियोंकी छटाओंका सौन्दर्यदीप्त सम्मिश्रण करनेमें डॉ० देवराजकी लेखनीने सिद्धि प्राप्त कर ली है। द्वन्द्व-बोध तथा जीवनके उत्थान-पतनोंका चित्र उपस्थित करनेमें कविने अनेक नवीन सुनहले बिम्बों, प्रतीकों-द्वारा प्रभूत कवित्व, शिल्प-सौन्दर्य तथा भावबोध बिखेरा है जिसकी ध्वनियाँ मनमें निरन्तर गूँजती रहती हैं।

'प्रज्ञापारमिता' शीर्षक अन्तिम खण्डमें युग-प्रबुद्ध जीवन-द्रष्टा कवि मनुष्यको नया प्रबोध देकर उसे 'इतिहास-पुरुष' के अंकमें एक ऐसे उच्च चैतन्यके धरातलपर खड़ा कर देता है जहाँसे वह समस्त सापेक्ष जगत्, जीवनकी ऋजु कुंचित गतियोंको तटस्थ, निःसंग, निरपेक्ष भावसे विराट् विश्व-चेतनामें संयोजित देखकर विकास-क्रमको प्रगति देनेके लिए उत्तरोत्तर नवीन प्रेरणाएँ ग्रहण कर सकनेमें समर्थ होता है। इस खण्डका निर्माण कविने आत्माके आलोक, मानसके परिमल पराग तथा प्राणोंके प्रदीप्त पावकसे किया है। क्षणजीवी मनुष्यमें वह ऐसी अदम्य जिजीविषा तथा अखण्ड शक्ति भर देता है, जिसके अमृत संजीवन स्पर्शसे वह काल-चक्रके विपर्ययोंके आघातसे अविचलित रहकर सदसत्, ह्रास-विकास,

हानि-लाभकी उद्धतफन, जिह्मगति तरंगोंको चीरता हुआ आत्म-विश्वास, निष्ठा तथा निर्भीकताके साथ महज्जीवनके मंगलमय लक्ष्यकी ओर अबाध गतिसे अग्रसर होनेका बल प्राप्त करता है। मध्ययुगीन विराग विरक्ति तथा वर्जनासे मानव-चेतनाको ऊपर उठाकर रसचेता कवि मनुष्यको उद्‌बुद्ध, रचना-प्रेमी, कर्मप्राण तथा अजेय आशावान् चैतन्य तथा जीवन-दृष्टि सौंप देता है। यह अन्तिम भाग अत्यन्त सशक्त, गम्भीर, कवित्व-पूर्ण तथा जीवनके मंगल आलोकसे ओतप्रोत है। इसमें डॉ० देवराज अत्यन्त समर्थ कविके रूपमें निखरे हैं। इतिहासके अकूल अतल समुद्रका मन्थन कर उन्होंने अपनी दर्शनज्ञ दृष्टिसे जीवन-नवनीत स्वरूप जिस अक्षय तत्त्वको पाठकोंके हाथोंमें रख दिया है, वह अपने आलोक, ऐश्वर्य, उपयोगिता तथा कवित्वमें, चिरपुराण होते हुए भी, चिरनवीन अभिव्यक्ति-के सौन्दर्यसे आप्लावित है। शाश्वतके व्यापक अंकमें युगजीवन जैसे अपनी अनेक अंग-भंगिमाओंमें क्रीड़ा करता हुआ इस भावपंख काव्यमें मूर्त्त हो उठा है। आदिसे अन्त तक कविका प्रेरणाप्रद उन्मेष ज्योंका त्यों बना ही नहीं रहता, वह अधिकाधिक विकसित तथा जीवन्त हो उठता है। कविने जिस नवीन काव्य-भाषाको जन्म दिया है वह अपनी सभी पिछली सीमाओंसे मुक्त होकर नवीन युग-चेतना तथा भावबोधको सबल सौन्दर्य-मयी अभिव्यक्ति देनेमें पूर्णरूपेण समर्थ हुई है। उसके अनेक शब्द-चित्र तथा वाक्य-बन्ध अक्षय सौन्दर्य कलशोंकी तरह अपना भावबोधगन्धी काव्यवैभव प्राणोंमें उँड़लते रहते हैं। अन्तमें कविके ही शब्दोंमें अखण्ड-जीवन चैतन्यके प्रति आस्था प्रकट करते हुए मैं इस स्वल्प प्राक्कथनको समाप्त करता हूँ—

हवा-नीर-माटी की अँधियारी खोहों में
ज्योतिवाही स्वर-अक्षर
जीवन-सन्देश लिए सदियों का आ रहे
सावधान स्वागत कर ;
सावधान ! कवि, गायक, चिन्तक औ' सन्त वे
मेरे आलोकप्राण,
रूपसुधा, रागसुरा, जीवन की श्रेय-सिद्धि
नित जिनसे स्यन्दमान ;
जागृति-विवेक-बोध-मंगल के वारिवाह
रससोते प्रेरणा के
शुभ-सुन्दरचेतना के !

—सुमित्रानन्दन पन्त

संकेतिका



इतिहास-पुरुष

(लघु-काव्य)

*

खण्ड एक : परिचय
खण्ड दो : द्वन्द्व-बोध
खण्ड तीन : प्रज्ञापारमिता

१

परिचय

•

मैं हूँ इतिहास-पुरुष
भू की आक्षितिज जमी जड़ता की कीच से
शतदल-सा कढ़ा,
ग्रह-उपग्रह-तारों के जटित ज्योति-कक्षों की
छाया में बढ़ा;
सुरसरि के श्वेत-स्वच्छ लहरीले धारों के
ध्यान डूब धुला,
नील व्योमकुंजों के साँवरे रहस्यों की
राहों में खुला;
सत-रज-तम तीनों के रूप-गन्ध-रंग लिये
त्रिभुवन का लाड़ला,
संसृति की चेतना-हिलोरों पर थिरक, खेल
मैं बढ़ता चला;
मेरी सौ लब्धियों के ध्वजा-चिह्न सुरभीले
उभरे कुछ पत्र बड़े,
भावी सम्भावना-समूहों से शरमीले
बाक़ी सम्पुटित पड़े;
आदि-अन्त अनचीन्हे, वासना-भँवरियों से
प्राण-क्रिया श्वेत-कलुष,
मैं हूँ इतिहास-पुरुष !

२

जरा-रोगहीन अमर

मैं अनादि कालविष्णु की गहरी नाभिगुहा
से निकला ब्रह्मकमल,
सर्जन की गहन-गूढ़ उद्वेलित शक्तियों का
मैं ही हूँ केन्द्र प्रबल;
गन्धभरी हवा की तरंगों-सी फैल जातीं
मेरी अँगड़ाइयाँ,
वन-उपवन-बाग़ों पर छातीं बहार बन
मेरी परछाइयाँ;
मेरी स्मिति-रश्मियों का सोना बटोर-जोड़
बनती श्रीमन्त उषा,
चितवन की भंगिमाएँ बीन-सँजो तारकित
हो जाती सन्ध्या;
मेरी द्युतिछाया में नयी कान्ति, नया अर्थ
रवि-शशि-नक्षत्र वे
पा जाते; बस जाते जल-थल-भू-व्योम में
देवव्यूह कितने :
इन्द्र, वरुण, वह्नि, वात, पूषन्, पर्जन्य, उषा
अदिति, अर्यमा भास्वर
जरा-रोगहीन, अमर !

३

व्यापक मैं हूँ विराट्
रोम-रोम में मेरे ज्ञान-क्रिया-भावाकुल
चित्तलोक बस रहे
बेगिनती; चेतना की स्वप्न-बोध-किरनों के
तार उलझ-फँस रहे;
मैं ही सहस्रनेत्र : लाख रूप-रंगों पर
दृग मेरे गड़ रहे,
मेरे हज़ार बाहु संसृति के कण-कण को
बरबस पकड़ रहे;
मेरी विशाल बुद्धि सूर्य-चन्द्र-तारों के
ताप-वेग नाप रही,
मेरी अतर्क्य शक्ति जल-थल, समीर-व्योम,
विद्युत् को चाँप रही;
बलशाली आदि महाशूकर-सा मैं प्रचण्ड
भूतल का प्राणभार
ढो रहा, विश्व की तमिस्रा में ढाल रहा
प्रज्ञा की ज्योतिधार;
सपनों का स्वर्णलोक, आशा का ज्योतिक्षितिज
स्वयंकृती मैं स्वराट्,
व्यापक मैं हूँ विराट् !

४

मैं अन्तर्लीन तेज
चेतवाले जन-जन की भावना-मनीषा में
रश्मिद्रवी बह रहा,
तमघेरे अन्न-वायु-कोशों से नित्य नयी
ज्योतिकथा कह रहा;
मेरी विशाल दिव्य छाया के छूते ही
मानव का सूक्ष्म मन
बन जाता जगती के लाख वर्ण-रूपों का
दृगकर्षी दर्पण;
पल में बदल देता मैं अपने ध्याता के
देह-प्राण, बुद्धि-मन,
और आँख-कान, और हो जाते प्रीति-घृणा,
और-और हास-रुदन;
और-सी निगाहें, और दृष्टि, नयी भंगियाँ,
और-और चितवनें,
मेरे उपासकों के चित्त में समा जाते
नये अर्थबोध घने;
मेरा विशाल कालपट ऊबी कल्पना की
बनता विनोदसेज,
मैं अन्तर्लीन तेज !

५

रसवर्षी कलाकार

मेरी यह रूपसुराछकी घूम-फिर जाती
मादक दृगकोर जिधर
नया रूप, नया रंग, छाती उमंग नयी
दिशियों के तममुख पर;
नये गन्ध-यौवन से सिहर-सिहर खिल पड़तीं
कलियाँ बन-बाग़ों की,
नव-नव स्वरकम्पों में बोल-थिरक खग करते
खोज नये रागों की;
रजतकोर लहरों से सरिताएँ साँवरी
उजला सिंगार किये
वन-पर्वत-पन्थों में रचतीं अभिसार नया
पुष्पित उभार लिये;
बिजली की द्युतिलिपि में सावन के अम्बुवाह
सित-श्यामल वेश नये
धारण कर, दे जाते नर की मन-आँखों को
ज्योतित सन्देश नये;
नभचारी श्वेत हंस पूनम-से चमक लाते
चित्तों में प्रीतिज्वार,
रसवर्षी कलाकार !

६

मैं वटपादप विशाल
शतियों की सौ करोड़ शाखाएँ बृहत् व्याप्ति
गत औ' अनागत की
घेर रहीं, झिमक रहीं पत्तों-सी उदय-अस्त-
तिथियाँ ग्रहतारों की;
अरब-खरब खर्व वृत्त क्षुद्र ज़िन्दगानियों के
मंजरी के किनकों से
टँके हुए, कुछ काल-आँगन में टपकफटे
पके-गिरे फलों-से;
साहसी विहंग कुछ नये गीत-रागों के
गूँथ गये नीड़ सुघर
झाँकते झलक देते जिनसे नृवीरों के
यशपंखी कृत्य अमर;
मेघघिरे अम्बर-सी मेरी विशाल छाया
ढक लेती फैल-पसर
सिन्धु-शैल-वन भू के, बोधि-विद्युतें मेरी
जातीं आलोक वितर;
विश्व की अँधेरी के सामने अकेला मैं
खड़ा ज्ञानदीप्त भाल,
मैं वटपादप विशाल !

७

भोले नर ! भूल जा
उस निष्कल, निष्प्रपंच, अशरीरी ब्रह्म को
क्रिया-गुणों से वर्जित,
रंग-रूप-गन्धों से जग के हुई न कभी
चिति जिसकी अनुरंजित;
अतल अब्धि : नहीं जहाँ हवा के झकोरों से
उठा कभी पुलक-कम्प,
नभ नीरव : उषा-साँझ आँकतीं जहाँ न कभी
किरनों के वर्णगुम्फ;
तप्त लौह गोले की दीप्ति-सी तरंगहीन
दृष्टि – नहीं चितवनें
करतीं विलास जहाँ; शून्य बोधचित्त जहाँ
उठतीं न धड़कनें;
रुक्म रागसूरज की किरनकूचियाँ जिसका
रँगतीं न भावपटल,
मोहक विकल्प, स्वच्छ शोभन संकल्प जिसे
करते नहीं चंचल;
माया-ममत्वहीन : ध्यानधजा छोड़ तू
मेरी ही शरण आ
भूल, उसे भूल जा !



२

द्वन्द्व-बोध

८

मानव, तू क्यों उदास
विविध वर्ण-गन्धभरे भूमि के पड़ावों में
क्यों उखड़ा मन तेरा ?
देश-काल के शब्दित चौड़े फैलावों में
क्यों इकलापन तेरा ?
तेरे दृगकोशों को क्यों वन-मैदानों की
लहलह हरियालियाँ
देतीं रस-सेक नहीं नये तरुण आमों की
मँजरीली डालियाँ ?
छक - छक मधुद्रव पीतीं सुमनदल-सकोरों में
भँवरों की टोलियाँ,
शाखों पर थिरक रहे सुघर खग-किशोरों में
नयी मधुर बोलियाँ;
कोयल की कूक नयी, उपवन की माटी में
नयी हूक, नयी पुलक,
परिमल-परागवाली पवनों की घाटी में
नयी मोदमत्त ठुमक;
तेरे चितिरन्ध्रों में घुस पाता क्यों नहीं
अग - जग का यह हुलास ?
मानव, क्यों तू उदास ?

६

यह ऋतुओं की बहार
घुमड़-घुमड़ गर्वीले सावन के व्योम में
घिर आते मेघ घने,
दिशियों के धुन्धभरे चित्तों में कौंध जाते
जगमग नये सपने;
अम्बर की वीथियों में सतरंगी झालरों के
झिलमिल वितान नये
तन जाते, नचनी में मोर की उलझ जाते
घुमड़ी-गुमान नये।
आश्विन के स्वच्छ, नील अम्बर की झील में
हंसी - सी बदलियाँ
तिरती हैं, शरमीली परियों-सी रात में
न्हाती हैं ज्योतियाँ।
पूस में हिमालय की बरफ़ानी घाटियों के
निर्जन में सन्ध्या
लाल सुरारँगे रश्मि - पंख खोल छेड़ती
विहग-राग नया।
फागुन में नये खिले फूलों से ममाखियाँ
जतलातीं नया प्यार,
यह ऋतुओं की बहार!

१०

ये ऊँचे शैलशिखर
जिनके सफ़ेद स्वच्छ बिल्लौरी फ़र्श पर
आ ऊषा-अप्सरी
नये ज्योति-भँवरों में किरणपगी नाचती
रँगे हाव-भावभरी;
जिनके विशाल - गूढ़ हिमधोये गर्भ से
बह चलते बाहर
साधना - सँवारे कवि - अन्तर से स्वरों - से
रसवाही निर्झर;
शुभ्रपूत बरफ़ीली लपटों में जल जाते
मन के कषाय जहाँ,
सिद्धों - से मेघ तपी भुव को जुड़ाने का
सीखते उपाय जहाँ;
श्वेत तुहिन-द्युतियों की अमृतथनी धेनुएँ—
स्फीत धार जिनके
नद - नालों, नये हरे लहू के प्रवाह बने
भू को उबार लेते—
अंकचारिणो इन की, श्याम जलदपाखियों के
ये ही हैं नीड़ सुघर,
ऊँचे ये शैलशिखर !

११

शिशु नौनिहाल वे
झरनों-सी तरल-मुक्त हँसियाँ मुखडाबों में
कण्ठों में किलक-रोर,
कजरारी आँखियों में चमकभरे गालों में
भोली रंगीन भोर;
शुक-पिक की चटकदार चहकन-सी अटपटी
मधुघोली बोलियाँ,
अनजाने मुग्ध भाव - अभिनय में लगीं चपल
भौंहें, कर - उँगलियाँ;
कुतूहली विस्मय का भोला फैलाव कभी
जगमग शरारतें
आँखों में; दौड़धूप, ऊधम मचाने की
नस-नस में आदतें;
पगड़ी-प्रवीन सिक्ख, टोपीटिके तुर्क, हैट-
वाले फ्रेंच-जर्मन
दुनिया की दस हज़ार सड़कों पै घूम रहे
लड़के उदार मन,
(उत्साही, तन-मन पै शासन की बेड़ियाँ
कोई न डाल दे !)
बाल नौनिहाल वे !

१२

वह मोहक प्रेयसी
गहन चषक - आँखों में सुरा - अमृत साथ भरे
गूढ़ - अलस ताकती
नज़रों से नयो - नयी बेसुधियाँ, नये बोध
अन्तस् में आँकती;
लाज - चाव - सम्भ्रम में गोपन कथाओं के
नये पृष्ठ खोलती,
झुकी - चूमी पलकों की स्वच्छ - सित उठानों में
मधुद्रव - सा घोलती;
चाँदनी से धोये पथों मेघ-घिरी गैलों में
जीवन की सहचरी
स्मितियों के स्वर्ण-रजत प्रभादीप लिये साथ
बढ़ती संकल्पभरी;
घने जलद-बालों के बीच इन्दुकला-जैसा
छिपा-खिला चेहरा
चेतना - सरोवर में घुस पाता नयी रूप -
लहरों का सेहरा;
नयी - नयी हँसियों में स्नेह-समझ-धैर्यवती
श्वेतजुही - सी खिलती
मोहिनि वह प्रेयसी !

१३

सिने-कलाकार कुशल
वह देखो नायिका की भिन्न भूमिकाओं में
नाज़-अन्दाज़भरी
घनपट पै यहाँ-वहाँ बिजली-सी झलक मार
नज़रों में समा रही;
दर्पण-से गाल, बड़ी आँखों की पुतलियाँ
दूधबिन्दु-धोयी-सी,
शिष्ट, सधी चाल-ढाल, सुथरा लिबास, मीठी
बातों में खोयी-सी;
अन्तर की गुप्त प्यास, प्राणों का छिपा गीत,
स्मितियों की नयी विभा
प्रेयसी प्रकट करती नव साहस-शक्ति, नयी
संकट-सहिष्णुता।
सीता-शकुन्त सती, रूपजीवा अम्बपाली
सम्राज्ञी नूरजहाँ,
और वह अनारकली : भिन्न-भिन्न स्थितियों में
भिन्न-भिन्न छवियाँ
दिखलाती; हास-व्यथाभरी चित्त दर्शकों के
टिक जाती रूपविमल
सिने-कलाकार कुशल !

१४

विज्ञानी वे उदार
योगियों-से एकचित्त निज प्रयोग-भवनों में
रच लेते शोध-याग,
पूर्वाग्रह-पक्षधरी दोषों से मुक्त, खरे
तथ्यों में बद्धराग;
गणना-प्रवीन, सूक्ष्म अणुओं विशाल ग्रह-
तारों के गति-कम्पन
नाप-जोख, मानव की देवोचित शक्तियों का
करते ज्ञापन-वर्धन;
वह देखो उँगली के क्षुद्र-से इशारे से
जगमग हो गया हॉल,
बीस बल्ब दस पंखे बले-चले, माइक से
कढ़े सुघर शब्द-जाल;
रॉकेट-सवार शून्यपथ में सवेग वे
अवनी की परिक्रमा
कर रहे, उठ रहे शीतकिरण ओर भरे
उर साहस की ऊष्मा;
पग-पग पर दिखा रहे नयी-नयी निर्मितियाँ,
नये-नये चमत्कार
विज्ञानी वे उदार !

१५

सत्यव्रती, रसकांक्षी !
रेडियो-रजतपट के स्वरोच्छ्वास, राग-रंग
चहल हाट-बाटों की
बाँधते न क्यों मन को, दवा क्यों न कर पाते
ऊब औ' उचाटों की ?
वाशिंग्टन-रोम-प्राग-पेरिस के ऋद्ध नगर :
नभछूते भव्य भवन;
सड़कें, बाज़ार, पार्क; ललित शिल्पकृतियों से
शोभित वे कला - सदन;
दिल्ली-बम्बई इधर, लण्डन-न्यूयार्क वे
लेनिनग्राद-मॉस्को
नित बढ़ते बुद्धि-बल-वैभव के चिह्न, तुष्टि
देते क्यों नहीं तुझको ?
भूमिगर्भ रेलों में, सिन्धुपथ जहाज़ों में
व्योमचर विमानों में
घूम फिरा, पा न सका पर वह दे शीत सेक
जो कि जले प्राणों में;
कैसी यह सूक्ष्म-जटिल बुद्धि की विडम्बना है
भाग्य की उलटबाँसी,
सत्यव्रती, रसकांक्षी !

१६

रचा-बना रूप-साज़
गालों पर शुभ्र क्रीम-पाउडर की सूक्ष्म पर्त
घुँघराले, कढ़े केश;
पुष्ट देह खार, प्रोटीन औ' विटामिन के
भोजन से; रुचिर वेश;
दीर्घ आयु; युग का, अतीत इतिहासों का
अखबारी सहज ज्ञान;
बुद्ध-यीशु-फ्रॉयड के शेक्सपियर-सीज़र के
लेते हैं साथ नाम;
जनतन्त्री, बुद्धि के उदार ,फ्रेंच, ब्रिटिश और
अमरीकी नागरिक
नीतिनिपुण – नेहरू-अयूब, जिना-गान्धी में
देखते न भेद अधिक;
सिर्फ़ यह कि धरती पै जन सब स्वाधीन रहें,
सिर्फ़ यह कि ज़िन्दगी की
सारे सरो-सामाँ के साथ शोरग़ुल करती
गाड़ी यह चले बढ़ी;
रेलगाड़ी, हवागाड़ी; भिन्न वेग, पर सब का
एक राग, एक राज़
रचा-बना रूप-साज़ !

१७

ऊपर से भला-भला
वेशभूषा रोबीली, चमकीली स्वच्छ त्वचा
सुथरा मुख, शिष्ट भाव,
सधी-तुली बातचीत, मँजी हुई मुसकानें
सेवा का प्रकट चाव;
डिप्लोमेट, डायरेक्टर, अधियोक्ता, राजदूत
लोकसभा के सदस्य,
गृहमन्त्री, वित्तसचिव : गतिविधि में वैधानिक
वार्त्ता-व्यवहारदक्ष;
ऑफ़िस में सुलभ शिष्ट स्मितियों के किरन-फूल
छितरातीं आदतन
आगन्तुक-साथियों में उपजातीं गन्धभ्रम
महिलाएँ क्लान्तमन;
ख्यातनामा जननेता, प्राध्यापक मंच पर
देते व्याख्यान घने
देशोन्नति, भाव-ऐक्य, प्रतिरक्षा : सूत्र गिने
कह देते रटे-सुने;
बाहर में भड़कदार शब्दों का घटाटोप
भीतर में खोखला,
ऊपर से भला-भला !

१८

पीते हैं चायकॉफ़ी
दूध-क्रीम-मक्खन से वंचित ही सुबह-शाम
लेते हैं 'लंच'-'डिनर',
शुकपन्थी मार्क्स-सार्त्र-इलियट के भक्त, बुद्धि-
जीवी लेखक-लीडर;
कहीं पूर्व-पश्चिम की धरती में नहीं जड़ें
किन्तु बड़े आधुनिक,
साँझसुने सूत्र सुबह दुहराते—एशिया के
होनहार नागरिक !
नये के नये आशिक़ नव्यतम विधाओं की
करते कृतार्थ नक़ल,
नये-नये लेखकों के, कृतियों के नाम लेते
गर्वभरे, रसविह्वल;
काव्य-कला-रचना की प्रवचन-विवेचना की
नित्य नयी तकनीकें
सीखते हैं : फ़ैशन के रेतवाले तटों पर
रचते हैं नयी लीकें;
क्लासिक-मिठाइयों के परहेज़ी, चाबते हैं
लेमनड्रॉप औ' टॉफ़ी
पीते हैं चायकॉफ़ी !

१६

तथ्यबँधे, वस्तुव्रती
पश्चिम के भूततन्त्र, नर-समाजशास्त्रों के
व्याख्याता सूक्ष्ममति
भीतर के भाव-चाव, शिव-सुन्दर चेतना को
जोहते सभय शंकित;
मूल्यसूनी दुनिया का देख-देख अर्थहीन
देश-काल में प्रसार
मानव की ज़िन्दगी के दुःसह एकान्त को
कोस रहे कलाकार;
भय-संशय, नास्तिभाव, ऊब, अकेलेपन से
नर का अस्तित्व घिरा,
क्या चिन्ता : महाकाल-धारा में बुदबुद-सा
कौन उठा, मिटा, गिरा;
क्या-कुछ है वरणयोग्य, सुन्दर-असुन्दर क्या—
मन के विकल्प सभी,
जीवन का केन्द्र व्यक्ति की बस है वासना,
अन्त व्यर्थ है सो भी;
गहन मरण-कांक्षा से सम्प्रेरित बुद्धि-हृदय,
बाहर से शक्त, कृती
पश्चिम वह वस्तुव्रती !

२०

तेरी सब व्याधियों का
ओ मानव ! एकमात्र मैं ही निदान, भिषक्
मैं ही औषध तेरी,
मति तेरी, गति तेरी, धर्मकर्म सब तेरा
लाज और पत तेरी;
जननी-जनक मैं ही, मेरी ही गोद में
तेरे मन-बुद्धि-अहम्
उगते-पनपते हैं; उड़ते संकल्पों में
मेरे ही तेज़ क़दम;
प्रत्यय-प्रतीतियों का कर्म-कल्पनाओं का
तेरी बस मैं प्रमाण,
हानि-लाभ, यश-अपयश, हार-जीत का मुझ को
निर्णेता सही मान;
ललित केलि-क्रीड़ाओं का तेरी रुचिर दोल
यत्नों का क्षेत्र वितत,
शानदार लब्धियों का निलय-नीड़ : मैं तेरी
यात्रा, गन्तव्य, पथ;
तेरी हर उलझन का हल मैं, उपचार सभी
संकट-उपाधियों का
तेरी सब व्याधियों का !

२१

आ मेरे अंक बस
वह वत्सल मातृगोद, गुरुओं-द्वारा सतर्क
वह भविष्य का चिन्तन
हरगिज़ पर्याप्त नहीं राग-रक्त प्रेयसी के
उष्ण-मधुर वे चुम्बन;
यह धन-सम्पत्ति विपुल, वे वैभव के प्रतीक
पद-बल, यह रोब-दाब,
अद्धे उपचार सखे भव के कसालों के
सुख के रंगीन ख़्वाब;
तू केवल पिण्ड नहीं धूल-हवा-पानी का
केवल शरीर नहीं,
पा तृण-जल जो करता धमाचौकड़ी वन में
वह मृग अधीर नहीं;
तू केवल जीव नहीं, पशु या पतंग नहीं
सिर्फ़ क्षुधा-काम नहीं,
यहाँ अभी घेर रहा सीमित जो देश-काल
उसका ग़ुलाम नहीं;
चेतवान, तेजस्वी, गत-आगम का द्रष्टा
सार जगत का सर्बस,
तू मेरे अंक बस !

२२

त्रिभुवन का नयनतारा

देख-देख मुसकाते उपवन के फूल तुझे
चहक-चहक उठते खग,
ताक-झमक रुख तेरा जोहते सलोने वे
नभ के दीपक जगमग;
उँगली-सी कोंपलों के कोमल संकेतों से
वन की वे वल्लरियाँ
तुझको बुलातीं झाँक नीलम-निकेतों से
उषा-साँझ की परियाँ;
विहगों के विगत गीत, चाँद औ' सितारों के
पिछले वे किरणनाच
स्मृतिमिटते माँग रहे काव्य-कलागारों के
कक्षों में अचल वास;
संसृति के सब रहस्य तेरी मतिभूमि में
होने को अंकुरित
उत्सुक हैं; विद्युत की हर ज्योतित ऊर्मि में
तेरी ही छवि अंकित;
जड़-चेतन की हरेक अवघट सम्भावना का
तू प्रयोगरत प्यारा,
त्रिभुवन का नयनतारा !

२३

मुझमें जी, साँस ले

क्यों तुझमें ऊब जगे, क्यों इकलापन तुझको
भूले आक्रमित करे,
आसपास की दुनिया क्यों निज लघुताओं से
मन को संशयित करे ?
देश-काल के घटिया बिन्दुक्षणों में क्यों तू
निज को अवरुद्ध करे,
सुरभि-सिंची गैलों में शुचि जय-आख्यानों की
क्यों न चित्तमृग विचरे ?
मेरी अमराइयों के कवि-कोकिल क्यों न कान
में नित-नित रस घोलें,
तर्कतुले शब्दों में जीवन-वन के रहस्य
शुकचिन्तक भी खोलें ?
शोभन नर-नारियों के शब्द-वर्णचित्र करें
मनआँखों को समृद्ध,
वीरों के कीर्त्तिवृत्त घृत-ज्यों संकल्पों की
ऊर्ध्वग लौ करें इद्ध;
मेरे थिरज्योतिवन्त तारों की छाँह में
किरन-कलित वास ले
मुझमें जी, साँस ले !

२४

तेरी ये वासनाएँ
सोमपायी देवों के भीम-कर्ण-हलधर के
लहू में प्रवेगवान
उगीं-पलीं, मत उनसे लज्जित हो, नहीं उन्हें
हरगिज़ अपूत मान;
वह तेरी प्रेयसी की तिरछी सराग दृष्टि
अंगों के दृढ़ उभार,
दमयन्ती-द्रौपदी-शकुन्तला-सुभद्रा की
स्मृतियों के ज्योतिद्वार;
खींच रही दृग तेरे प्रतिभाप्रगल्भ जो
रूप-बुद्धिगर्विता
मंच खड़ी, जनतन्त्री वेश में प्रसिद्ध वह
मिस्र की क्लिओपेट्रा;
तेरे विराग-राग, माया-मद, अहंकार
सब ही के बीज धरे
मैं विराट : राम-बुद्ध, सीज़र-सिकन्दर वे
मुझमें ही जिये-मरे;
आदिपुरुष मुझसे ही रज-तम के द्वन्द्व निसृत,
सत्-शिव की साधनाएँ
तेरी सब वासनाएँ !

२५

मत निज को तुच्छ मान
चित्तद्रव्य के तेरे कण-कण में झिमक रहा
मेरा विद्युत-विलास,
गुप्त कामनाओं की तह-तह में थिरक रहा
मेरा अरुणाभ लास;
तेरे अधीर बुद्धिमन के विवर्त्तनों में
मेरे विकल्प अड़े,
कर्मक्षेत्र में तेरे उलझ रहे प्रश्नों से
नित अर्जुन-कृष्ण खड़े;
तेरे ही वीर ! धीर क़दमों की थाप में
बढ़ता है रथ मेरा,
आरोही तू, तू ही मंज़िल है आप में
वाहन औ' पथ मेरा;
तू मुझ से नित अभिन्न, मैं तुझ में ओतप्रोत
एक उभय का गौरव,
मेरी बेआदि-अन्त यात्रा की अमर जोत
तेरा चिन्मय सौरभ;
गत की स्मृति, आगम का स्वर्णस्वप्न मैं तेरा
तू मेरा देह-प्राण,
मत निज को तुच्छ मान !

२६

कितना तू है बेबस
रेशम के तार-जैसी तेरी मृदु चेतना
और यह अपार, घना
शैलसिन्धुवनों वाली भू का, द्युलोक का
कर्बुर वितान तना;
स्मृति तेरी कोमल ज्यों पँखुड़ी गुलाब की
ओसकण-छाँह पाली,
और यह अटूट बिन्दु-क्षणों वाले काल की
नद्दी अथाह, काली;
दो-इंची आँखियों की इन नाजुक प्यालियों में
विश्व की विषम राहें
रूपरंगआकृति-सुराओं को ढाल रहीं
तिक्तमधुर धाराएँ;
लघु मन को घेर रहीं दस दिशियाँ, तीन लोक
नभ के सौ दृष्टि-चाव,
एक वक्ष : भुवनों की भावती बहारों के
बेगिनती फूलघाव;
मुक्त भी बँधा-खोया गीतलुब्ध हिरना-सा
जोह रहा राग-रस,
कितना तू है बेबस !

२७

खोजी, संघर्षनिरत

नाप-जोख द्रव्यों की गतियों-प्रकृतियों को
तत्त्वों की जाँच कर,
गर्वभरा भुवनों के हवा-वह्नि-पानी को
हाँकता तले-ऊपर;
सूक्ष्म समीकरणों के पेचीदे हलों से
रचना के मन्त्र ले
गढ़ लेता यान-यन्त्र, जल-थल-समीर में जो
मनवेगी दौड़ते;
धरती के छोरों और अम्बर के गर्भ में
कार्यव्यस्त कुछ ज़्यादा
घूम-फिरा यात्रा के उद्‌गम पै लौटता
देहमन थका-माँदा;
चावभरी आँख और रंगभरी कल्पना
भूली उड़ानक्रिया
पूछतीं : कहीं है पन्थ, मंज़िल, व दृश्य चरम
रम रहता चित्त जहाँ ?
फिर-फिर यात्रा-भगदड़, फिर-फिर रे ऊब-श्रान्ति
जीवन का क्रम शाश्वत :
खोजी, संघर्षनिरत !

२८

सुख के सामान घने :
स्वच्छ-सुघर बँगलों में चूना-सीमेण्ट नये
इस्पाती फ्रेम कड़े,
चमकीले फ़र्श, वात-अनुकूलित कक्ष, लॉन
मरकत-सी दूब जड़े;
नभवाणी से विसृष्ट वाद्य-गीत ध्वनियों का
मीठा, अभ्यस्त रस,
दूरदर्श-पटिया पर रूप-रंग-अभिनय का
नयनाकर्षी उत्सव;
वेगवती कारों से चल-गुंजित राजपथ,
वे विद्युत-गतिस्पर्धी
तल-रेलें, हवा-जेट : देख-बरत खुश होता
बुद्धि-ज्ञान-बलगर्वी !
अकस्मात् एक दिन खिन्नचित्त उखड़े मन
देख लचलचा लगाव
अपना औ' वस्तुओं का, भूल जाता रागरंग,
हानि-लाभ का हिसाब;
आँकता असंग खड़ा दुनिया की उछलकूद,
हार-जीत के सपने,
सुख के समान घने !

श्रमडूबा रातदिन
खान-पान-वस्त्रों की सुविधाएँ कमोबेश,
नाम-भरम साधारण
पा लेता; दिखलाते आदर-ममता सतर्क
पुत्र-मित्र औ' परिजन;
शिष्टचतुर गृहिणी की फीकी सायास हँसी
गुरुजन की आशिषें
आशा औ' चाटुभरी; साथियों के सधेतुले
मीठे परिहास वे;
सभामंच से प्रदत्त भाषण उत्साहभरे—
मिस्र प्रश्न-टीकाएँ,
यत्नरचे काव्य-कथा-नाटक पै अहंगर्भ
तिक्तकटु समीक्षाएँ;
पर्वती प्रयत्नों से बह जाते कहीं-कहीं
सूक्ष्म सफलता-निर्झर :
सोच-सोच बन जाता थकेप्राण राही का
ज़िन्दगी-सफ़र दूभर;
अन्त कहाँ पगगति का, भँवों के पसीने का
पूछता अधीरमन
श्रमडूबा रातदिन ।

३०

जिस-जिस को थाम-पकड़
मन के विराम और अन्तर की तृप्ति की
पालता चरम आशा,
आकर समीप बहुत मुँहचिकने मित्र-सा
दे जाता वह झाँसा;
बैंक का बढ़ा खाता, बँगला व कार नयी
पद-रुतवे का उभार:
दूर से सुहाने, पास पहुँचे ही खोल देते
अभिनव अभाव-द्वार;
स्नेह-प्रीति-आदर की अनचीन्ही व्यंजनाएँ,
नव-नव ज़रूरतें
लेकर वे साथ आतीं दुर्लभ सफलता की
पहचानी मूरतें;
प्राप्ति का हरेक क़दम स्थूल-सूक्ष्म माँगों के
नये-नये चेहरे
चमकाता, अन्तर के व्योम में हुमक दुखते
दबे घाव गहरे;
कागज़ी जहाज़ बना वातचक्र का विमान
जिसको ले चला बढ़,
जिस-जिस को थाम-पकड़ !

३१

क्षण-पल का यह जीवन :
लिप्स्टिक का शोख़ रंग, मित्रोचित ऋजु निगाह
मृदु, उदार मुसकानें
सुबह खिलीं, फूल की पँखुड़ियों-सी साँझ तलक
लग जातीं धुन्ध खाने;
प्रेमप्रीति की क़समें, प्रणयकेलि की रस्में
विरह-कष्ट की बातें
चन्द माह-बरसों में फ़िल्म के फ़सानों-सी
बुद्धि-मन विरस पाते;
मोहक दो-चार बरस, आकर्षक एक दशक
सह्यमात्र दिन बाक़ी
दृगदुलरी तारिका-सी रूप-रंग में क्रमशः
ढल जाती ज़िन्दगी;
शुष्कगिरे पत्तों का, म्लानमले फूलों का
फलों का गले, बासी
गाहक है कौन यहाँ ? इधर छोड़ उधर चली
मधुपपाँत रसप्यासी;
व्यक्ति को भुला-बिसरा जीवयोनि का फलता
बेख़बर निलज यौवन;
क्षण-पल का यह जीवन !

३२

आह ये दुराशाएँ
इन्द्र के बगीचों के, पारिजात-फूलों के
विष्णु-शिवसभाओं के
वे सपने, वे बखान : स्वर्ग-मुक्ति के वादे
वेद की ऋचाओं के;
शमदम-उपदेश कड़े, त्याग-तपस् की सीखें
ज्ञानभक्ति-चर्चाएँ,
साधन रे सभी सिर्फ़ बुद्धि को भुलाने के
मन की प्रवंचनाएँ;
हूर-गिल्माँ का कहीं, कहीं अप्सराओं का
लोभ चित्त पर हावी,
भूतप्रेत, राहुकेतु, यम का भय छेंक रहा
वर्तमान औ' भावी;
बोझबनी पापबुद्धि से पीड़ित कभी-कभी
कर लेता दान-कथा,
बीते सुख, सब कुछ का अन्त सोच कभी चित्त
भर लेता कटुक व्यथा;
बड़े-बड़े धूलउड़े देख मनोरथ कँपतीं
आगम की कल्पनाएँ,
आह रे दुराशाएँ !

३३

द्रष्टा दृढ़चित्त बन

बन्दी मत बन मनुष्य ! सपनीली कल्पना का,
प्रज्ञा के किरणद्वार
खोले रख; बेझपकी आँखों से तीन काल
त्रिभुवन को तू निहार;
जीवन को देख बन्धु ! थिर, अविचल दृष्टि से;
आकुलताहीन मुझे
देख-जाँच; अपने ही भावना-विचारों की
परतों में चीन्ह मुझे;
तेरे अरमान सभी, आशा-कांक्षा-विचार
क्षुद्र-बड़ी सीमाएँ
मुझमें निमग्न, जैसे अम्बर में हवा, मेघ
बिजली की भूमिकाएँ;
तेरी ही उषा-साँझ, रवि-शशि के उदय-अस्त
मेरे अभियान-चिन्ह,
निज में समेट किन्तु तेरे गति-गम्य सभी
बढ़ता मैं अविच्छिन्न;
पगपग पै देशकाल तेरा ये लाँघते
वामन के धीर क़दम;
द्रष्टा दृढ़चित्त बन !

३४

निश्चल, निर्लिप्त नज़र
तेरी देखे निशंक जीवन के युगल छोर
कालसर्प-छाँहों से
घिरे-ढँके, मध्य भाग द्योतित सुख-हास की
काँपती विभाओं से;
वह अभिनव रंगरूप बाग़ के गुलाबों का
वे मोहक पाँखुड़ी,
वे उभरे रँगे होठ, आभामय गाल सुघर
आँखें वे बड़ी-बड़ी;
विरह-मिलनचिन्ता में व्यस्त उन सितारों के
रौप्यपटी परिवर्तन,
रागरोष, स्तुतिनिन्दा के रोचक रंगमंच
संसदीय निर्वाचन;
घृणादग्ध आँखों से देखते परस्पर वे
शीतयुद्ध-सेनानी :
मधुलेपे भाषणों से जनमन को खींचने के
उद्योगी, अहंमानी;
तमघिरती साँझों की स्वर्णपगी यात्रा-सा
जीवन का ज्योतिसफ़र
देखे निर्लिप्त नज़र !

३५

निरायास मन तेरा
फगुआ के रंगभरी उषा की चटक चूनर
साँझ का सिन्दूरबाना,
अभ्रों की छाँह अभिसारवती चाँदनी का
छिप-छिप के झलक जाना;
फूलों का पराग मले मधुश्री का चैत के
अंक में सिमट आना,
आमबौर-गन्धों का कोयल के कण्ठ पले
स्वरों से लिपट जाना;
मानिनी नवेली का सोच-सुमर कुछ बातें
मन्दमधुर मुसकाना,
रागरमे गायक का करुण गीतटेकों को
बार-बार दुहराना;
आँखों में आँख डाल शिशु का चिन्तित माँ के
आनन पर हँसी लाना,
दाँवहारे पी-मन पै नवबदली-साँवरी का
प्यार बन बरस जाना;
देख-समझ मुदिता व मैत्री भूमियों में
करे संचरण-फेरा
निरायास मन तेरा !

३६

जनमन की जिह्मताएँ !
सरलचित्त, लघुकांक्षी, थोड़े में तुष्टतृप्त
नर को न-कुछ गिनना,
डाहभरी चुप्पी से, खीझती असूया से
योग्य का सुयश छलना;
महाप्राण, महदाशय लोगों की स्थिति ऊँची
देख-देख कर मलना,
व्रती, वीर पुरुषों के तेजभरे कृत्य देख
हृदयप्राण में जलना;
असन्तुष्ट इच्छाएँ, खोखली तमन्नाएँ
यत्न-कोशिशें दुर्बल,
बैठ कहीं कैफ़े में ख़ामियाँ गिनाने में
देश की मगर अव्वल;
ऊँच-नीच के महीन भेदों से नहीं काम
जनतन्त्री नागरिक
अहंवीर, अपने को कहीं किसी से घट कर
मानते नहीं हरगिज़;
चारों ओर मैं-मैं का हंगामा : चित्त नहीं
तेरा श्रमा पायें
जनमन की जिह्मताएँ ।

३७

दर्पभरे तानाशाह

भूतशास्त्र-विज्ञों की विद्या के सुविख्यात
संरक्षक; भक्त बड़े
नभ-पथ-अन्वेषण के; नीतिविद् रक़ीबों को
कितने ही कुचल बढ़े;
काव्य-कला-दर्शन के, नीति-धर्म-संस्कृति के
विशेषज्ञ वे सबके,
जोशभरी तक़रीरें, लम्बे बयान, नित्य
जनहित में सीख देते;
तुच्छ किन्हीं बातों पर जब वे बिगड़ जाते
छोटके प्रलय-जैसा
दृश्य सामने आता : अहंकार का अणुबम
फट जाता ज्यों सहसा !
जनता के एकमात्र हितचिन्तक, काश वे
एकछत्र शासक भी
जन-मन के, सीमाहीन उसके भविष्य के
इकले नियामक भी
बन जाते ! मरणशील नर के उत्पातों का
अविचल तू बन गवाह;
दर्पभरे तानाशाह !

३८

सूक्ष्म, ज़रा नम निगाह
बोधिसत्व का ममतामधु आँजे विश्व के
एक-एक कोने का
प्रेक्षण-पर्यटन करे, ले हिसाब जीवन के
हँसी-खेल-रोने का;
बेबस बेज़ार कहाँ, लांछित लाचार कहाँ
मानव का कुसुम मन,
अपने ही मूढ़ग्राह-कीट कहाँ कर रहे
तिल-तिल उसका कृन्तन;
व्यक्ति की कुटिल कांक्षा कहाँ जनसमूहों की
बन जाती क्लेशकथा,
जनजड़ता-भुजग कहाँ जकड़ निज लपेटों में
वीर मनुज को डसता;
भूल कर भरोसे में दम्भभरे नेता के
जनगण का वोट देना,
और शक्तिसाधक का सेवा की आड़ लिये
गरदन दबोच लेना;
पग-पग पर छले, डरे मानव के चित्त की
देखे अव्यक्त आह
सूक्ष्म, ज़रा नम निगाह !

३९

मत हिम्मत हार मगर
छोड़ हौसला मन का नरता को तुच्छ समझ
देवों को याद न कर,
उद्यम-उमंग भूल दीन याचनाओं में
दिन-पल बरबाद न कर;
निर्भर-निस्तेज बना भावी अवतारों की
कर-कर के कल्पना
मत मन बहला; जग के संकट-अन्यायों से
तुझको ही जूझना;
विमल वीर-रत्नों से मेरे ध्रुव कोष के
ले-ले द्युति-प्रेरणा
भव्य ध्येय-यत्नों की नौका में बैठ तुझे
मृत्यु-तिमिर को तरना;
क्षुद्र अहं का अपने मेरी युगबस्तियों में
करके विस्तार चरम
अपना सतगुरु, नेता, पथदर्शक, मीत-सुहृद
खुद दीपालोक बन;
उठता-बढ़ता नित चल, दीखे गन्तव्य भले
दृढ़ ऊँचा, दूरतर
मत हिम्मत हार मगर ।

४०

रब्ब-ज़ब्त हम दो का :
मित्रों की प्रणयग्रन्थि दुनिया सचराचर के
मंगल की नींवशिला,
चित्तबाग़ की तेरे मैं चिरनूतन बहार,
तू मेरा वास-क़िला;
तेरे स्मृतिकक्षों में जीवित निःशंक मैं
नभ के दिग्वासों में
विमल बोध-भावों के पहुँचाता सुरभिपुंज
उड़ते उच्छ्वासों में,
मेरे तप-तेज-त्याग-साहस के ज्योतिजड़े
रोचक आख्यान घने
पथभूले, क्लान्तश्रान्त मन के संकल्पों के
सम्बल-आधार बनें;
नित्य नयी खोजों से, नयी कल्पनाओं से
नव-नव निर्माणों से
नवालोक, स्फूर्ति नयी, नव बल दे : बाँध मुझे
निज गतिमय प्राणों से;
पूरक परस्पर हम; विस्तृत यह युग्म करे
प्रगति-पन्थ लोकों का
रब्त-ज़ब्त हम दो का !

४१

लघुतर यह भूल अहम्
नश्वर मैं नहीं नित्य, सीमित छोटा भविष्य,
साँसों की सूक्ष्म कथा :
सोच-सोच मीत नहीं पाल कुसुमप्राणों में
तू अपने कीटव्यथा;
आगम की फ़िक्र राहुमुख-सी ग्रास करे
चन्दा-सा वर्त्तमान,
पूस से डरी कोयल भूले क्यों चैत में
अपनी मधुसिंची तान ?
मम-तव की भावना से असम्पृक्त, मुक्तमन
बन तू निर्द्वन्द्व मीत,
भोले गुलाब जैसा खिल-हँस ले चन्द रोज़
दे जग को गन्ध मीत;
हृदय-बुद्धि-आत्मा का वैभव बटोर सब
दे मुझको मुक्त दान,
मेरी प्रसन्नता में, उन्नति-समृद्धि में
निज को कृतार्थ जान;
शोभन विचार- यत्न सहचर हों रातदिन,
दृढ़तर उद्योगक़दम;
लघुतर यह भूल अहम् !

४२

तन-मन की खुशबुएँ :
स्वच्छ तरल आँखों की ऋजुकोमल दृष्टियाँ
शिष्ट औ' उदार वचन,
धरती के संकटों की, नर की बेबसियों की
अवगति से खिन्न मन;
नव वय का नया जोश, रक्त में उभार नये
राग औ' विरागों का,
मैत्री का चाव नया, नया-सा दबाव, पुलक
प्रणयप्रीति-माँगों का;
इन सब से : भव्य वेश, भास्वर आलापों के
भावते खिंचावों से;
बाँध लो परस्पर को अर्थभरी स्मितियों के
रोचक उलझावों से;
विश्व के बगीचे में नये-नये फूलों-से
खिलो-बढ़ो बेपरवा,
क्या चिन्ता कब सूखी पँखुड़ियाँ छीन-झपट
बह्-चल दे कालह्वा;
युग-युग स्मृति-कोठों में मेरे बस-लहकेंगी
तेरी शुचि साँसलयें,
तन-मन की खुशबुएँ !

४३

शुभ-सुन्दरचेतना के
कण तेरे दृष्टि और चेहरे की भंगियों में
जुगनू-ज्यों झिलमिलायें
ज़िन्दगी की बगिया के फूलक्षणों को घेरें
अमर ज्योतिछायाएँ;
तेरी सराहना की मतवाली गन्ध में
कविकोकिल मुक्त गायें,
बुद्धिनीड़ में तेरे चिन्ता-विहंगियाँ वे
बस्ती उदार पायें;
हवा-नीर-माटी की अँधियारी खोहों में
ज्योतिवाही स्वर-अक्षर
जीवन-सन्देश लिये सदियों का आ रहे
सावधान स्वागत कर;
सावधान ! कवि, गायक, चिन्तक औ' सन्त वे
मेरे आलोकप्राण,
रूपसुधा, रागसुरा, जीवन की श्रेय-सिद्धि
नित जिनसे स्यन्दमान;
जागृति-विवेक-बोध-मंगल के वारिवाह
रससोते प्रेरणा के,
शुभ-सुन्दरचेतना के।

४४

मेरे ये फूलप्राण :
मृदुल रंग-रेखाएँ, शब्दों के तरल व्यूह
अर्थों के संघ अडिग,
ठोसबृहत् वन-पर्वत ग्रह-तारकपिण्डों से
स्थायी हैं बन्धु अधिक;
प्रलय के थपेड़ों से रविशशि हों मार्गभ्रष्ट
डोले भी व्यस्त धरा,
वायवी प्रतीकों में रक्षित न ठेस पाये
किन्तु मेरी परम्परा;
कालफणी की चिकनी पृष्ठसेज पर लेटा
बुधवन्दित विष्णु-सा
वामनी क़दम जैसा वर्धमान मैं करता
शाश्वत की साधना;
भूतों के उपद्रव से त्रस्तध्वस्त भूतल पर
यदि होगा खण्डप्रलय,
ज्ञानविज्ञानपाखी दूर कहीं पहुँच मैं
रच लूँगा नया निलय;
वात-बाढ़-बमवर्षा जरा-रोगबाधा से
मुक्त अभियानवान
मेरे ये फूलप्राण !

४५

निर्भय, निष्काम बना
दुनिया का सहज सुहृद, न्याय-सत्य-सुन्दर का
प्रेमिक व पक्षपाती,
नये बोध, दृढ़तर विवेक, नये मूल्यों की
खोजनिरत पुरुषार्थी;
विश्व की असंख्य रूप-छवियों का संचयिता,
सदाधनी रसचेता,
कर्मनिष्ठ, कल्पना के हवाचित्र धरती पै
आँकने का व्रत लेता :
बन ऐसा; बन्धु ! बुद्धिमन की विभूतियों को
बाँटे चल तू प्रसन्न,
प्रीतिगन्धी स्मितिफूलों से पग-पग पर तेरे
हो जग-उद्यान धन्य;
विमल ज्ञानधागों में भाव-कर्मनिष्ठा के
रुचिवाले रंग भर
गढ़ निज व्यक्तितत्व-ध्वजा, मेरी जययात्रा की
शोभा औ' शान अमर;
महाव्रती महाकृती मुझमें समर्पित यों
कर जीवन-यापना,
निर्भय-निष्काम बना ।

• •

ऋष्य शृंग

*

ऋष्य शृंग

लोमपाद भूपति के विस्तृत राज्य में
हुआ एक बार
अनावृष्टि का कोप, दुसह दुर्भिक्ष की
भीति दुर्निवार।

बुला गुरुजनों को चिन्तित सम्राट् ने
किया परामर्श :
'क्यों अनिष्ट यह सिर पर, कैसे टल सके
संकट-संघर्ष ?'

बोले कुलगुरु, 'राजन् ! अमरों का हुआ
कोप हम पर,
काल सदृश पल-पल अकाल आता बढ़ा
त्रस्त भू पर।

है उपाय पर खेद असम्भवप्राय-सा
उसका प्रयोग,
ऋष्य शृंग का शुभ प्रवेश ही राज्य का
हरे राजरोग।'

'ऋष्य शृंग !' आकुल हो नरपति ने कहा,
'तपोनिधि पिता
जिनके जनसम्पर्क-त्याग की कर चुके *
दृढ़ प्रतिज्ञा ?'

---

* पूर्व पाठ : जिनके पिता, जन-संनिधि के परित्याग की कर चुके—

'वही', समुत्तर दे सुदीर्घ निःश्वास ले
गये कुलगुरु,
चिन्ता-सागर-मग्न भूप भी उठ चले
स्वीयान्तःपुर ।

पा रानी को भी विमर्श-विनिमग्न वे
हुए अति द्रवित,
उस रजनी में प्रजा-हेतु दोनों न सो
सके चिन्तित ।

सखियों से सुन वृत्त सुता ममतामयी
नाम शान्ता
आयी प्रातः—ज्यों गृहीत रवि-चन्द्र की
ज्योति कान्ता ।

'क्यों चिन्ताकुल जननि ! तात !' श्यामा खगी-
तुल्य कुमारी
बोली, 'मैं ऋषि-सुत लाने वन-यान की
करूँ तयारी' ।

कैसे बेटी घन अरण्य में जायगी—
रानी सविषाद
'पिता-पाश से छुड़ा उन्हें क्यों पायगी,'
बोले लोमपाद ।

'ओ माँ ! मैंने सीखी किस दिन के लिए
बाण-विद्या,
तात ! कला-गुरु ने सिखलायी है मुझे
मोहन-कला ।'

जननि-जनक को आश्वासन इस भाँति दे
चली कुमारी,
लता-पत्र-आच्छन्न कुटी-सी नाव की
बनी सवारी ।

पहुँची उस वन जहाँ पिता के साथ सह
वर्षा-आतप
ऋष्य शृंग फलभोजी करते तेजमय
अति घोर तप ।

जटा-जूट सिर, तपे स्वर्ण-सी देह, मुख
भव्य भावता*
बालातपमें खड़े ऋष्य को लख चकित
मुग्ध शान्ता ।

सहसा निज उद्देश्य याद कर मोहिनी
मधुर मृदु हँसी,
गूँजी ध्वनि; मुनि-दृष्टि सद्युति मुख-कंज में
विवश आ फँसी ।

कूज रहे थे विहग विविध तरुमाल में
खिले सौ सुमन,
चलती थी मृदु वायु, भ्रमर सौरभसने
करते गुंजन ।

---

* पूर्व पाठ : जटा-जूट सिर, तप्त स्वर्ण-सा दिव्य तन; बहिर्गत पिता;

शान्ता ढिग आ भोले मुनि बोले, 'सखे !
कौन हो तुम ?
कैसा तप करके आकर्षण पा सके
यह अनुपम ?'

इतने में लौटते दिखे उनके पिता
तपोव्रतधारी,
ज्योति-रेख-सी सस्मित पश्चिम में हुई
लीन कुमारी ।

चल विभ्रम का भाव देख सुत-दृगों में*
शान्त तापस
बोले, 'आज तुम्हारी प्रिय ! क्यों घूमती
दृष्टि परवश ?'

'पिता ! आज मैंने देखा इस थल नया
एक तपोधन,
नूतन वल्कल, केश-ग्रन्थि नव, गन्ध नव
गति नूतन !

क्यों ना उसके साथ उसी-सा मैं करूँ
तप-संचय ?'
'शान्त वत्स ! भ्रम हुआ तुम्हें, परज्योति दे
अनुक्षण अभय ।

---

*पूर्व पाठ : देख लालसा-वह्नि पुत्र के दृगों में

'छोड़ो उसका ध्यान; पुत्र ! तप-चरण में
होते प्रत्यूह ;
शब्दब्रह्म का जाप करो जिससे कटें
कठिन क्लेशव्यूह ।'

इतना कह हो गये उपासन-लीन वे
मनोजित असंग,
पश्चिम-दिशि में प्रकृति-प्रेरणा-बिद्ध-से
चले ऋष्य शृंग ।

पहुँचे नदी किनारे शान्ता थी जहाँ
नाव में खड़ी :
वल्लरियों से टिकी, वसन्तारण्य की
कुसुम-राशि-सी ।

अनुचरियों के गूँथे पाटल-हार से
उच्छ्रित वक्षःस्थल,
बेला-भूषित केश, अम्बरुह-मेखला-
अंचित कटिथल;

सरसिज-मुख में बाल किरण के लास-सी*
स्मिति-रेखा;
ऋषि-सुत ने विस्मित विमुग्ध अपलक दृगों
से देखा ।

* पूर्वपाठ : शतदल-मुख में तड़ित-रश्मि के लास-सी

मन्द-मन्द आ बोली शान्ता हाथ गह,
'मित्र ! चलें साथ
दूर देश में, मेरे गुरु करते जहाँ
तप अवदात ।'

दिग्विमूढ़-से चढ़े नाव पर ऋषि-तनय
बँधे शुभ्र पाल,
लहरों से अठखेली करती नौकुटी,
चली क्षिप्र चाल ।

चहक रही थी प्रकृति दलनि तप-दम्भ की,
पवन अनुकूल,
प्रणय-जयध्वजा से उड़-उड़ थे आ रहे
तट-वृक्ष-फूल ।

किया नाव ने लोमपाद के राज्य में
ज्यों ही प्रवेश
गहरे नीले विद्युदुल्लसित घनों से
घिरा वह देश ।

ऋष्य शृंग को लेने अनुचर कोटि सँग
आये लोमपाद,
जल-बूँदों के साथ भूमि ऊपर पड़े
ऋषि-पद्मपाद ।

ऋषि के स्वागत हेतु महत् सन्ध्या समय
जुड़ा दरबार,
मीमांसा का बृहद् ग्रन्थ ले राजगुरु
आये उदार ।

'बिना गृहाश्रम नहीं कहीं संन्यास को
वत्स ऋष्य श्रृंग !
शास्त्रों में विधि, अतः तुम्हारा अब चले
परिणय-प्रसंग ।'

किंकर्तव्यविमूढ़ ऋष्य का ज्यों हुआ
केश-संस्कार
जटा-जूट से मणिमयश्रृंग-प्रभा कढ़ी,
झँपे दृग-द्वार ।

आयी शान्ता सज्जित, लज्जित श्रृंगद्युति-
क्षुब्ध, संकुचित
किया मन्त्र पढ़ गुरु ने कलित किरीट में
उसे परिवर्तित ।

नभ में घन, जनउर उमड़े थे उस दिवस
कुतूहल-उछाह,
अवगुण्ठन में बद्धदृष्टि मुनिपुत्र का
हुआ जब विवाह !

• •

क्लिओपेट्रा का पत्र :
सीता के नाम

*

क्लिओपेट्रा का पत्र :
सीता के नाम

•

जनकनन्दिनी !
रविकुल की विख्यात वधू,
राघव की साध्वी, सती प्रिया
लंकापति की मशहूर बन्दिनी !

कल नन्दन के पूर्व-उत्तरी पुष्प-कोण में
एक तुम्हारे आश्रम की तापस-कन्या ने
मेरी मालिन को लक्षित कर व्यंग्य से कहा :
पश्चिम से आ कभी-कभी टकरा जाती है
अब कुछ गन्दी, बेवफ़ा हवा !

आयी ग़ुस्सेभरी, झींकती, बकती-झकती
गुलशन मालिन—सुन-सुन सब दासियाँ जल उठीं,
सखी-सहेली खिन्न-क्षुब्ध सब मुझे घेर कर
बोलीं, 'सहना नहीं उचित अपमान इस तरह,
देना है ज़रूर कुछ उत्तर।'

मैंने समझाया कोशिश कर युक्ति-तर्क से :
'धरती के झगड़े जन्नत में नहीं सोहते।'
व्यर्थ हुए सब तीर बुद्धि के, चीख़ सबों ने
कहा कि यों बेइज़्ज़त होकर जीना सीखा
नहीं मिस्र की ख़ातूनों ने।

कुछ भीतर के कुढ़न-क्लेश कुछ आश्रित जन की
क्षुब्ध भावना, इसीलिए यह पत्र लिख रही,
वरना क्या चिन्ता करती मैं उस बड़बोली
मूर्ख तापसी की जिसने दफ़नाये शव की
तिक्तगन्धिनी पेटी खोली !

अनुभव तीखे-तल्ख़ ज़िन्दगी के कर सौ-सौ
शान्त-सन्तुलित बहुत बन गयी हूँ मैं यों तो,
जमा नहीं है किन्तु अभी तक ख़ून रगों का,
दाह जिगर में, अब भी इतिहासों के मनके
स्मृति-धागों में चित्त पिरोता ।

'तुम पवित्र, तुम धन्य, सभ्यता की मर्यादा,
और क्लिओ वह—ज़िक्र न छेड़ो उसका दादा !
माय-बाप-गुरुजन का जिस पर कभी नियन्त्रण
रहा न, जो आज़ाद शुरू से रही अन्त तक
करती सीमाओं का भंजन ।

'अब सीज़र से प्रेम, एण्टनी से अब उलफ़त,
साम्राज्यों के ख़्वाब, कूट अभिनय-पारंगत,
आँखों में जादू, होठों में अमृत-विष भरे,
दृप्त, बेझिझक, नज़रबाज़, चिकनी-चमकीली
नारी-नागिन क्या नहीं करे !'

पता नहीं मुझसे सम्बन्धित ऐसी बातें
सुन मन में क्या भाव तुम्हारे आते-जाते,
पर निश्चित ही तुष्ट तुम्हारी ख़ूब साथिनें
होती होंगी, पर-निन्दा-सी रोचक, सुखकर
कम ही हैं चीजें दुनिया में !

मेरा जीवनवृत्त मनों में खीझ जगाता
तुम सबके, क्या करूँ नहीं कोई पछतावा
होता अब भी मुझे : बनी हूँ निपट बेहया,
तेज़क़दम गत की यादों से वर्त्तमान यह
मान रही सम्पन्न हो गया !

खेद यही तुम और तुम्हारी तापस-सखियाँ
सभी पलायनवादी संस्कृति की सन्ततियाँ,
जनक-विदेहों के घर, मुनियों के आश्रम पल
बनीं त्यागिनी, ठण्डे तन-मन, हृदय-बुद्धि जड़,
चित्त अनुत्सुक, नयन अचंचल।

समझ सकोगी कैसे उनकी मनोवृत्तियाँ
विश्व जगत् के अणु-अणु पर जो रँगी दृष्टियाँ
डाल, चाहते सब-कुछ को दुनिया-जहान में
छूना, धरना, घेर पकड़ना, सहना, जीना,
बाँध-गूँथ चेतना-प्राण में !

भेद सिर्फ़ यह : संकेतों पर वक्र भँवों के
चलता था इतिहास-चक्र जिसके यह पहले,
वह सम्राज्ञी अब तटस्थ दर्शिका बन गयी,
भुक्तभोगिनी, राग-द्वेष-द्वन्द्वों से निष्कृत
बोधदीप की शिखा बन गयी।

शिखा—चमकती लौ—जो केवल राख ही नहीं
कहीं शून्य में सुलग-जल बुझे अंगारे की;
कवि-काया से भिन्न स्वरों-वर्णों में दिपती
निराकार वाणी-सी—रसिकों के मन-घन में
दामिनि जैसी दमक मारती।

निश्चय ही तुम निर्विकार निःसंग भूमि की
मुझ-सी, या मुझसे ज़्यादा, अधिवासिनी बनीं,
अन्तर है पर एक बड़ा : जब तुम जीवित थीं
धरती पर, तब भी मन-काया से बेचारी
रहती थीं कुछ बुझी-बुझी-सी ।

तुमने कब जाना जीना
प्रज्वलित तेज से,
आँसू बहते, प्राण धुँआते
नित्य ही रहे !

पल-पल शंका, संकट औ' दुर्भाग्य प्रतिक्षण,
ब्याह, राज्य की मृगमरीचिका, वह निर्वासन,
वह सोनामृग, वह रावण की कंचन-कारा,
महासमर लंका का, वह विजयी राघव का
लोकभयी संशय हत्यारा !

कब जीवन का स्वाद ले सकीं तुम दुखियारी,
फिरीं डोलती इधर-उधर क़िस्मत की मारी,
घेर तुम्हें अब चाटुकार तापस-कन्याएँ
बेचाही, वंचिता सुनातीं ऊँच-नीच की
गढ़-गढ़कर भावती कथाएँ ।

प्रेम न मेरे लिए सिर्फ़ प्रणयी की सेवा,
चाह समर्पण की, या विह्वल आकुलता था,
नहीं देह के तीखे-मीठे कुछ संवेदन,
ऊष्मित चुम्बन, उन्मादन आश्लेष और फिर
विस्मृति के बेरूपरंग क्षण ।

नहीं प्रेम उतना भर। युवती बीस बरस की
शिष्ट-शिक्षिता जो विदग्ध चर्चाएँ करती
काव्य-कलाओं की लैटिन में और ग्रीक में,
बे-सहाय, निर्वासित, कैसे इतने भर को
पकड़ चल सके जीवन-मग में ?

तरुण चित्त, बारीक बुद्धि, संकल्प ध्रुव, बड़े
ऊँचे सपने; और शत्रु सब ओर वे खड़े;
शंका, भय, नैराश्य छोड़ निज हाथों मैंने
भाग्य-डोर ली, नाज़ुक विहगी की उड़ान में
प्रेमिक-प्रेम बने दृढ़ डैने।

बादल से बिजली-सी जब कम्बल में लिपटी
निकल विजेता सीज़र के मैं चित्त पर गिरी,
इतिहासों के अन्तरिक्ष में नयी हवाएँ
चलीं; नये तूफ़ान उठे भूमध्य-उदधि पर,
जन-जिह्वा पर नयी कथाएँ।

रोम-मिस्र एशिया-तटों के सब अधिवासी
भूले गत जीवन की सारी ऊब उदासी;
देख ज्वलित दो नक्षत्रों को कर्म-गगन में
साथ, नयी उत्सुकता, आशा, नया कुतूहल
नयी दीप्ति फैली जन-मन में।

नये वाद-संवाद, प्रशंसा-ईर्ष्या-संशय
जन-मानस में लहरे नव आवेश, नये भय;
रोम-प्रजा के मन्दिर में सीज़र के बायें
हुई क्लिओ की प्रतिमा स्थापित; संघर्षों के
नये नाद से भरीं दिशाएँ।

विश्वजयी सीज़र की वह विश्वासघात के
हाथों हत्या ! उल्काओं के तुमुल पात वे !
यज्ञ-वह्नि-सी किन्तु ज्वलित मैं नव आहुतियाँ
रही माँगती : नयी ज़िन्दगी, नयी उष्णता,
वीर-प्रणय की नयी प्रणतियाँ !

प्रेमिक के मन-बुद्धि-हृदय पर गर्वित शासन,
यही प्रेम-सुख; और चरम उसका चरितार्थन—
प्रेमिक-बाँहों के झूले में पेंग मारकर
आगे, आगे बढ़ना, फिर लौटना शान से
सात समन्दर-शैल पार कर !

प्रेम आन्तरिक शक्ति : नये उत्साह-रक्त से
रग-रग को आन्दोलित करती,
प्रेम बाह्य आधार-प्रेरणा : जीवन-रथ के
चक्कों में नूतन गति भरती।

सीज़र का अग्रणी बन्धु, निर्भय सेनानी
देवर से प्रेमास्पद-प्रेमिक बना ऐण्टॅनी,
भीमार्जुन-सा जलता नित जो वीर्य-तेज से,
हलधर-सा हालाप्रिय, हनुमत्-सा समर्थ जो
सिन्धु लाँघता विपुल वेग से।

कभी रोम, यूनान, एशिया-तट प्रदेश में,
कभी मिस्र में वीर विचरता विविध वेश में;
वक्ता, दानी, रणरंगी, निर्भीक, बेथका
कभी समर की अंगूरों की कभी क्लिओ की
अधर-सुरा से बेतरह छका !

माना मैंने मार-काट औ' युद्ध स्वयं में
नहीं काम्य; खोये रहना संगीत-काव्य में
और प्रणय में मोहक-मादक; किन्तु करें क्या
युद्धाश्रित ही बढ़ पाता इतिहास। प्रलय है
साम्य, सृष्टि में गुथी विषमता।

सत्-रज-तम तीनों से गुम्फित है नर-जीवन,
विवश हम सभी : भिड़े युद्ध में राघव-रावण,
कौरव-पाण्डव, भीष्म-पार्थ सब लड़े परस्पर,
धरती का इतिहास अग्रसर करने त्यों ही
जनमे-जिये ऐण्टॅनी-सीज़र :

और क्लिओ यह—जिसे एक नासमझ तापसी
(जो न भूमिका भी जीने की शुरू कर सकी !)
चली तोलने क्षुद्र बुद्धि का लिये बटखरा;
समझा देना उसे, दूसरों को, इसमें ही
श्रेय निहित है स्वर्ग-मर्त्य का।

पाप-पुण्य गरुए हैं, पर उनसे भी गुरुतर
है यह जीवन—जीवन का अहसास तीक्ष्णतर;
शान्ति बड़ी है, किन्तु शान्तिसे भी महान है
क्षुब्ध मनुज-चेतना—जहाँ बिम्बित भुवनों की
सारी हलचल, सभी शान है !

शान्त-सरल जीवनचर्या से मुझे तुम्हारी
नहीं शिकायत; किन्तु इसे समझो लाचारी
अपने उस बीते जीवन का शोरगुलभरे
मुझे आज भी मोह, अभी भी उन स्मृतियों से
हो जाते मन-प्राण ये हरे।

कैकेयी-लंकेश-राम की वे छायाएँ
रहीं छेंकती सदा तुम्हारी जीवन-राहें;
तुम स्वतन्त्र कब चलीं – धैर्य-सन्तोष से धनी
जग के उद्यानों में प्रतिमा त्याग-कष्ट की
बनी सदा तुम थीं प्रवासिनो ।

बिलकुल ही विपरीत रहा मेरा जीवन-क्रम,
मन्त्रमुग्ध युग-सर्प चूमता रहा ये क़दम;
वीर-अग्रणी भी प्रेमिक वे तेज समेटे
स्निग्ध-कुटिल नज़रों के द्रुत संकेत जोहते
दीप्त क्लिओ की छाया भर थे ।

यौवन के उद्दाम सुखों से नित्यवंचिता
तुम अकाल ही बनीं वृद्ध—पूज्या जगमाता;
तापशीत-तप-साधक, शतवर्जना-विशारद
देश तुम्हारा आदर दे आशीष माँगता :
तुम्हें मुबारक यह बूढ़ा पद !

सदायौवना, नित उच्छृंखल, प्रखर, रूपसी
मैं थी वीरों की कवियों की स्वप्न-प्रेयसी;
विश्वसुन्दरी : विश्वप्रिया—मेरी यह आख्या,
विश्वमान्य कवियों के नाटक-काव्य कर रहे
जिसकी नयी नयी नित व्याख्या ।

कभी उपेक्षित, परापेक्षिणी होकर जीना
मुझे न था स्वीकार; नियति ने ज्यों ही छीना
वीर ऐण्टॅनी, और शक्ति-सिंहासन डोला,
सुघर वक्ष पर अंकित करने अन्तिम चुम्बन
खींच लिया विषदन्त सँपोला !

जीवन-भर उद्दीप्त दीप की लौ-सी बलती
अन्त ठसक से मृत्यु-बवण्डर-गले जा लगी;
छोड़ नाम की महक महीतल की माटी में,
शाही शानें, ठाठ राजसी पुनः ठानने
आयी अमरों की घाटी में !

अमर-भूमि यह, घाटी इतिहासों की उनके
मर्त्यलोक में महत् कर्म के हेतु जो बने;
त्याग-कष्ट से कोई, कोई शौर्य-शक्ति से
अमरकीर्त्ति-सोपान पकड़ते; भिन्न-भिन्न जन
अलग-अलग चुन रहे रास्ते ।

टेढ़े-सीधे जीवन के बहुपन्थ पार कर,
दीर्घ मनन-चिन्ता से पाता यह विवेक नर;
सिया-क्लिओ दोनों का यहाँ ठहरना निश्चय
कल्प शेष तक; क्यों न छोड़ झंझट की बातें
साथ ढूँढ़ लें नया समन्वय ?

•

नूरजहाँ

*

नूरजहाँ

सल्तनते-हिन्द की क्लिओपेट्रा
मेहरुल्निसा, नूरमहल, नूरजहाँ
प्रेयसी सलीम की, बीवी शेर अफ़ग़ान की
जहाँगीर की मलिका :
ठीक-ठीक परिचय क्या ?

तप्त, बियाबान रेगिस्तान में
दीप्त रश्मि-कलिका-सी
थकी-माँदी सुकुमारी नयी मा की
देहलता
पर बेझिझक विकसी,
रूप-रंग-यौवन की संक्षेपित लौ-जैसी !

आलिंगन-बद्ध किये कृष्ण सर्प
मुख-सम्पुट ताका किया,
मन्त्रमुग्ध रूप-सम्राज्ञी का
रोम-रोम आँका किया;

'नूरजहाँ' एक लम्बी नाटचगीति है जिसके प्रत्येक लघुखण्डमें वक्ता या वक्ताका सम्बोध्य अथवा दृष्टिकोण बदल जाता है---यों प्रमुख वक्ता नूरजहाँ ही है। कविताके नाटकीय तत्त्वका यह विन्यास फ्रांसीसी कवि वैलेरी की 'लाज़्यून पार्क' के रचना-शिल्पसे प्रभावित है। संकेतित घटनाओंका आधार सुशील गुप्त (कलकत्ता)-द्वारा प्रकाशित 'नूरजहाँ ऐण्ड जहाँगीर' (१९५०) नामक लघु पुस्तिका है जिसके विभिन्न अध्याय ब्रिटिश इतिहासकारोंसे संकलित हैं।

लौटे बाप की आहट : छोड़ चला,
बाल भी न बाँका किया !

२

मेहरुन्निसा !
क्या तुमने सचमुच ही लाड़ले सलीम के
रूप-बल-बुद्धि को सराहा था,
या उसके माध्यम से और कुछ चाहा था ?
राग-रँगे कण्ठ से युवा अतिथि के आगे
जब तुमने ग़ज़ल गायी,
नृत्य-निरत अंगों की ज्योतिर्मय जब शोख़ी
हवा में थिरक आयी;
चेहरे की चाँदनी से अकस्मात् बदली-सा
अवगुण्ठन सरक गया,
तब क्या तुमने देखा
साथ शाहज़ादे के बदला-सा विश्व ? और
बनता इतिहास नया ?

३

निश्छल, उदार, महाशूर शेर अफ़ग़ान की
बाँहों पर, वक्ष पर
(शस्त्रहीन, केसरियों का पटु आघातों से
लेता जो दर्प हर)
शोभा-सम्मोहन-सा सिर रखकर
मेघ-रुद्ध बिजली-सी तेजवन्त मानिनी के
सोलह वर्ष घने
बीता किये कैसे ? तीक्ष्ण मानस में कौंधा किये
कौन-कौन सपने ?

पत्नी-जाया ? माता ? कब यह इतिहास को
रूप तुम्हारा भाया !
धूलढकी मणि-जैसी विधुरा की कान्ति ने
दुनिया को चौंधियाया !

रूपसी के सूने क्षण
अनायास नयी इत्र-गन्धों, शिल्प-बन्धों का
करते निर्माण, चलन ।

फ़ैशन की नयी मलिका
दिल्ली के दिलों औ' दिमाग़ों पर डाल रही
मोहिनी हुकूमत का जाल रेशमी, हलका ।

ज़िन्दगी की महफ़िल के भुक्तभोगी परवाने
देख रहे एक नयी शमा के हसीन ख़्वाब
बिजली के कम्पनों से बेगाने !
कितने अमीर लौटे हो-हो बे-आबरू :
दिल ही नहीं सब-कुछ, ऐ हुज़ूर !
स्वच्छ, बड़े दिलवाला शेर-अफ़गन
हो चुका दफ़न !
प्रतिभा-प्रकर्षवाली माहजबीं मेहर को
दिलों से वसीह कोई सल्तनत
चाहिए—प्रभावशाली पति, प्रेमी दिलकश
रसलोभी, नाज़बरदार, नित्य चरणनत !

४

मेरे सरकार, मेरे शहन्शाह !
ऐसी तल्लीनता से, ग़ौर से क्या देखते हैं ?
(औरत हूँ, कोई मैं पहेली नहीं !)
जैसे इस से पहले कभी देखे और छुए नहीं

मुस्काते होंठ, नैना मदभरे,
ये गुलाब, यह बहार···और···और
(पुरुष का अधीरज, नारी क्या करे ?)

बीस बरस पहले की वासनाएँ, धड़कनें
लौट आयीं; मानो मेरे बादशाह
फिर से शाहज़ादे बने !
क्या कहते हो ? पीकर भी पानी कई घाटों का
अब तक आप प्यासे रहे ! जी नहीं,
हम यक़ीन नहीं करते क़तई !
(गो कि अगर ठीक कहा-समझा जाय
तो बात हक़ीक़त से उतनी दूर नहीं;
लाजवन्ती राजपूत बीवी, और बेहद भलामानुस शेर अफ़गन :
ज़िन्दगी को ठीक-ठीक जीने का सभी को तो
होता शऊर नहीं !)
(जाम पर जाम पिये जायेंगे हम,
क्यों किसी बात पर शरमायेंगे हम !)

५

मेह्‌र बदल गयी है !
मन कुछ और से और हो गया है,
यों देखने-सुनने में प्रायः सब-कुछ वही है ।
मेरे जिस्म का यह सदाबहार बाग़
औरों को ही नहीं, मुझे भी फ़रेब देता है;
दुनिया का कारबार अदृश्य सूत्रों की नहीं
गोचर रंग-रूपों की चटकदार टेक लेता है ।
मैं अब सिर्फ़ वह जो पहले थी
नहीं रही,

सिर्फ़ भोग्या, सिर्फ़ भोक्त्री नहीं — मेह्र अब
ज़िन्दगी की साक्षो और दर्शिका भी बन गयी ।

६

शराब और इश्क़ के नशे में चूर
अपने जिस्म और दिल की ज़रूरतों से मजबूर
प्रेमी की वे ख़ुशामदी तक़रीरें :
(मेह्र, तुम्हें यह क्या हो गया है !)
शौक़भरी निगाहों की वह पहली, धड़कती उलझन
भोले, मासूम दिल का वह पहला, बेख़बर समर्पण
अभी भी क्या बाक़ी हैं उस पहली यात्रा की लीकें, कुछ लकीरें ?
(या वह सब समय के बहाव में खो गया है ?)
मेरे मदहोश आशिक़ ! तुम्हें मेरा मुबारकबाद,
पियो और पिलाओ, पियो और पिलाओ;
मैं बदल भी गयी तो इससे क्या हुआ,
तुम मुझे फ़रेब दो, और ख़ुद भी फ़रेब खाओ ।

७

रात के विनम्र प्रेमिक
दिन को बन जाते हैं शहन्शाह,
तेवर व तौर नये :
ख़ूब पार्ट करते हैं, वाहवाह !
मेरे व्यक्तित्व का यह सदाबहार उपवन-साम्राज्य
जहाँ स्मितियों की उषा, और हँसियों की चाँदनी है;
जहाँ, तुम्हारे ही शब्दों में, चम्पा की अधमुँदी कलियाँ
और गुलाब के प्रस्फुटित फूल हैं,
और मोतियों की केसर प्रवाल-पुष्पों की बन्दिनी है;
—यह क्या तुम्हारे लिए काफ़ी नहीं है ?
फिर क्यों तुम दूसरी चिन्ताओं का बोझ उठाओ ?

पीने के शौक़ीन मेरे आशिक़ !
तुम सिर्फ़ पियो और पिलाओ।
पियो और पिलाओ—तुम बाक़ी परेशानियों को छोड़ दो,
मेरी और अपनी ज़िन्दगी को
इश्क़ की सल्तनत और हुस्न की हुकूमत को
अब एक नया मोड़ दो !
रोज़-रोज़ के प्रशासकीय पचड़ों को वक़्त देना
क्या ज़िन्दगी की बरबादी नहीं है ?

८
मेरे इस महकते रूप की बहारों के
मेरी सारी ख़ुशियों के फूलों के
सिर्फ़ तुम्हीं मालिक हो, तुम्हीं बाग़बान;
और तुम्हारे लम्बे-चौड़े साम्राज्य के
इस बीहड़ विस्तार की
सिर्फ़ मैं ही मलिका हूँ;
(मेरे मेहरबान !
सौदा घाटे का नहीं है;
मोहिनी नूरजहाँ के हसीन यौवन की मिल्कियत
और उसके तौर-तर्ज़ की शरारती रंगत
सल्तनते-मुग़लिया की शानशौकत और कशमकश से
हर्गिज़ कम नहीं है !)

९
हिन्द की सरज़मीं की बिसात पर
मुग़ल-साम्राज्य के ये सैनिक और सरदार
स्वयंचालित मोहरों से स्थितियाँ बदल रहे हैं;
लड़ते-झगड़ते बात-बात पर
शक्तिकांक्षी, तने-ठने, तेज़-रफ़्तार

(वफ़ादारी की क़समें खाते हुए ग़द्दार)
चौकड़ियाँ भरते, गिरते-पड़ते, फिर-फिर सँभल रहे हैं।

इन घोड़ों की लगामें, इन ऊँटों की नकेलें
हमारे हाथों में होनी चाहिए,
ये वज़ीर, ये प्यादों के जमघट, और हाथियों के मेले
—इनकी फ़िक्र-शुमार-निगरानी होनी चाहिए।

क्या कहा ख़ुसरो मर गया,
और परवेज़ बीमार पड़ा है,
और शहन्शाह का प्यारा ख़ुर्रम दक्खिन में
फ़तह पर फ़तह पा रहा है;
यह मेरे महबूब के उदार, बड़े दिल में
उनकी मलिका के अलावा
कौन दूसरा धीरे-धीरे जगह किये जा रहा है ?
मेरे सिरताज ! ख़ुर्रम की नीयत साफ़ नहीं है,
बादशाहों के लड़के अधिकारों की माँग
और शक्ति का संचय
सिर्फ़ विनोद के लिए नहीं करते;
महाबत ! तुम हमारे बहादुर सिपहसालार हो,
हुकूमत के एक विश्वस्त और पायदार खम्भे,
ख़ुर्रम की सरकशी और विद्रोह को दबाने के लिए
उसे आज्ञाकारिता का पाठ पढ़ाने के लिए
हम तुम्हें भेजते हैं—तुम जो कठिनाइयों
और ख़तरों से नहीं डरते।

\+ \+ \+ \+

महाबत ने बहुत बड़ा काम किया
एक नाज़ुक ज़िम्मेदारी को ठीक से निबाहा

और एक कठोर कर्तव्य को ठीक से अंजाम दिया।

लेकिन यह जो महाबत का प्रभाव बढ़ रहा है,
यह एक नया ख़तरा है!

मेरे शहन्शाह! आप महाबत से जवाब तलब करें :
हुज़ूर से बिना पूछे लड़की की शादी तय कर देना,
और दरबार की हाज़िरी से कतराना, ग़लत कैफ़ियतें देना,
यह सब क्या है? हुज़ूर ख़ुद ही सोचें, समझें, निर्णय करें;
घमण्डी सेवकों की गुस्ताख़ियों को उदारता से सह लेना,
ख़ुद अपने जाहोजलाल के मात के लिए है शह देना।

१०

तुमने सुना, और तुमने, और तुमने?
कि सिपहसालार महाबत ने
एकाएक बाग़ी बन कर कैसा ग़ज़ब ढा दिया :
काबुल जाती हुई शाही फौज के झेलम पार करते ही,
पुल तोड़ कर, अरक्षित शहन्शाह को
अपने सैनिकों की मदद से नज़रबन्द बना लिया।
मलिका जो न जाने कैसे भाग कर आ गयी थीं
हाथी पर लबरेज़ नदी को रौंदती हुई
कुछ बहादुर सिपाहियों के साथ
उधर के तट की ओर बढ़ीं;
कहते हैं कि वे बड़े ख़ूबसूरत साहस
और दिलेरी से लड़ीं।
अपने हुस्न और वीरता से चौंधियाये हुए राजपूतों पर
अचूक, चुटीले साँपों-से तीर फेंकती हुईं,
दुश्मनों के प्रहारों और मनसूबों को काटती-छेंकती हुईं,
घायल, डूबते हाथी की पीठ से उभरी हुईं,

जलते गुलाबों की बेल की चमकती शमा जैसी
मारकाट की उस महफ़िल में भी सँवरी हुईं।
और आख़िरकार उनका वह नदी की लहरों में कूद जाना,
पीछा करते दो राजपूतों को छकाते हुए तैरकर पार आना;
और फिर – शहन्शाह की सुरक्षा और ढ़ाढ़स के लिए –
अपनी ख़ुशी से महावत की क़ैद में पहुँच जाना;
लगता है जैसे किसी शापभ्रष्ट परी का हो अफ़साना !

११

तुमने कहलाया कि 'महावत हमारा ख़ूब ध्यान रखता है
—तुम आ जाओ',
कि 'अकेलापन हमारे दिल को घबराता और परेशान
रखता है—तुम आ जाओ।'
तुम्हारे हुक्म और ख़ुशी का ख़याल करते हुए
मैंने ख़ुद को
दुश्मन की गिरफ़्त में डाल दिया;
मेरी—ऐच्छिक—बेबसी के इस पहले अहसास ने
उसके छोटे इरादों को निहाल किया।
अफ़सोस कि वह सिपाही जो ख़ंजर से लैस
मेरे खेमे में घुसा था
अपने संकल्प से विचल गया,
इस नामुराद हुस्न से तुम्हारा दिल और मेरा दिमाग़
ही नहीं फिसले-फ़िरे,
एक यमदूत का चित्त भी पिघल गया।
मैं बच गयी – दो ही दिन बाद यह सुनने के लिए
कि तुमने, मेरे मालिक और सम्राट् ने,
मेरी मौत के हुक्मनामे पर
ख़ुद अपने सक्षम हाथ से दस्तख़त किये हैं;

कि सुबह-सांझ मेरी मुहब्बत का दम भरनेवाले
मेरे प्रेमिक और पति ने
मेरी नश्वर ज़िन्दगी का पण दे कर
अपनी इन्साफ़पसन्दी के
नये, अमर प्रमाण हस्तगत किये हैं।

१२

सादे सफ़ेद लिबास में लिपटे हुए मेरे उदास रूप से
एक बार फिर प्रभावित हो कर
तुमने महाबत से मेरे जीवन की याचना की
—इसके लिए मेरा व्यक्तिगत, विशेष धन्यवाद;
लेकिन मेरी बुद्धि ने शहन्शाह जहाँगीर को
अपमानभरी क़ैद की स्थिति से जो मुक्ति दी
उसे—तुम भूले भी तो—इतिहास ज़रूर रखेगा याद

शायद ज़िन्दगी एक अँधेरी, दिलचस्प भूलभुलैया है
और प्रेम एक ख़ूबसूरत ख़्वाब,
और लैला-मजनू का वृत्तान्त एक दिलपसन्द अफ़साना;
—या फिर यह कि शहन्शाह जहाँगीर और मलिका
नूरजहाँ ने
प्रेम के अमृत-आवेश को ठीक-ठीक नहीं जाना ?
सच यह कि तुमने पूरी मुझ से नहीं, मेरे रूप और यौवन की
शराब से प्यार किया,
और मैंने तुम्हारी आड़ से इतिहास के अल्हड़ प्रवाह की
लहरों से जी खोल कर खेल-खिलवाड़ किया।

यही कारण कि तुम्हारे बड़े प्रस्थान के बाद
मैं, देह या मन से, हिन्दू प्रेमिका की भाँति,
सती नहीं हुई;
बल्कि उन पग-चिन्हों को
जो तुम्हारे साथ तय किये हुए रास्ते पर
मैंने ही छोड़े थे
अवाक् विस्मय, ममत्व और भय से
देखने को रुकी रही—देखती रह गयी ।

• •

अन्य कविताएँ

*

कल थोड़ी देर

कल थोड़ी देर
त्रिभुवन-विश्व के साथ मैं
एकदम अकेला था,
आँखों के सामने व्यस्त, घना
कैसा बड़ा मेला था !
ठण्डे आलोक से टिमकते ग्रह-नखतों के
बेगिनती गोले,
नभ-उर की वासना-से जलते आदित्यों के
श्वेत-रक्त शोले।
घूर्णमान धरती पर उफनाते वे समुद्र,
नद-नाले, निर्झरिणी,
झर-झीलें, अद्रिराज, ऋतुएँ वे बनीठनी।

अन्तरिक्ष में उत्थित आँधी-तूफ़ान कहीं
बादल, विद्युत्, उल्का,
कहीं क्षितिज-आँगन में सन्ध्या के महावरी
चरणों का रँग हलका।

पिघले भूगर्भ बीच दस हज़ार भट्टियों का
तापमान वो बाँका,
और ठोस धरती की लाख क़ब्रगाहों का
तुहिन-शीत सन्नाटा।

•

छोटा-बड़ा

मैं बहुत छोटा हूँ, तू बहुत बड़ा,
मेरा अस्तित्व तेरी अतुलित विशालता का
एक क्षुद्र टुकड़ा !
फिर भी – मेरे साहस को सराह – मैं अक्सर
तेरे इस समूचे फैलाव को
आँखों की इन पुतलियों पर तोलता हूँ,
ओ आकाश ! ओ ब्रह्माण्ड ! गर्व न कर,
अग्नि-शिखा-जैसी निज अहन्ता से
तेरी हिम-जड़ता के निविड़ बन्द
बस मैं ही खोलता हूँ !

●

अँजुरी भर रूप

चन्दरोज़ा यौवन के जाम में छलकता वो
अँजुरी भर रूप :
और इतना गर्व
डूबते चले जाते मर्द पर मर्द !

अँबिया की फाँक-जैसी आँखों का दो-इंची
नीलम विस्तार :
और यह अपार
अम्बर की भ्रान्ति, चित्तपाखी लाचार !

बूँद-जैसा मन, जहाँ सिन्धु-सी अहंता में
ज्वार-दृप्त भाव :
प्रेमिक बेताब
थाहने को जिसे घूमे ले आशा-नाव !

●

एक दर्जन शरारतें

चार दिनों की ज़िन्दगी वाले गुलाब की
एक दर्जन शरारतें :
ख़ूबसूरती से सिर हिलाकर ताकने-मुस्कराने की
लापरवाह आदतें;
बेहिसाब उदारता से हवा के हर झकोरे को
महकता पराग देना,
और हर देखनेवाली आँख को
अपने लहकते रूप का
चमकता चिराग़ देना;
बड़े इत्मीनान से ऋषियों और मुनियों के
सन्तों-फ़क़ीरों के, ज्ञानियों व कवियों के
चित्तों को भरमाना,
और फिर यह ढीट आशा जगाना :
कि युग-युग का काव्य-इतिहास
लिख-रखकर सुनेगा, सुनायेगा
उसकी इन बेशऊर हरकतों का अफ़साना !

●

एक घटना घटी

विश्व के एक कोने में
फूलोंवाली लताओं से घिरे एक कुंज के
सलोने एकान्त में
एक घटना घटी :
कोई मुस्कराया,
स्मिति-किरनों में उलझे किसी के चित्त से
ऊब और अवसाद के तम की
पुरानी चादर हटी।
पता नहीं विश्व के बेपरवाह विस्तार ने
उसे जाना या नहीं,
अपनी गुह्य कन्दरा में घुसती-फैलती किरन-रेख को
पहचाना या नहीं;
किन्तु इतिहास-पुरुष के संवेदनशील अन्तस् में
गुदगुदी-सी हुई,
और उसकी चेतना की एक परत
एकाएक आन्दोलित होकर
बरबस पुलक उठी;
एक घटना घटी !

●

कहाँ से

पुराने लोगों ने कहा है कि यह दुनिया एक सराय है,
और हम इसमें ठहरे हुए मुसाफ़िर;
कि हमें यहाँ ज़्यादा दिनों टिकना नहीं है,
कि दुनिया के सारे सम्बन्ध बेटिकाऊ और झूठे हैं।

यह सब समझ में आता है, चन्द बातों को छोड़कर :
कि यह सुबह-सुबह मेरे बाग़ की पत्तियों से
आँखमिचौनी खेलती धूप
मेरे तन-मन की हरियालियों पर
ऐसे इत्मीनान से
ख़ुशियों की नयी परत-सी
क्यों लहक जाती है;
और उसकी चहल-पहल से एकाएक आँखें खोल कर
मेरी चेतना की कली
कहाँ से
एक नयी-सी महक पाती है ?
कि यह सुबह की सुहानी, शान्त वेला
गौरैया और गुलगुची के गलों में
नयी चहक बनकर
क्यों थिरक पड़ती है,
और मेरे बच्चे की ताज़ी हँसी में
ओस की उन कनियों की मासूम स्वच्छता
कैसे, कहाँ से झलक पड़ती है ?

●

इस पार, उस पार

इस पार चीनी दीवार जैसी उचंग पर्वतमाला की
पथरीली ढलाने हैं
और उन में उगे ऊँचे, घने पेड़
जिनकी चोटियों में धुँआते गीले बादल
लगातार उलझते रहते हैं :
उस पार जाने क्या है !

इस पार अपने मन्थर नीलम प्रवाह में लहराती हुई
आँखों में शीतल रूप का गीला लेप-सा देती
यहाँ से वहाँ दूर क्षितिज तक फैली
प्रतिक्षण नयी-सी दीखती
अलबेली, अनोखी झील है :
उस पार जाने क्या है !

इस पार ये पार्क ये इमारते हैं,
ये बल खाती हुई सड़कें,
और ये क़िस्म-क़िस्म के सामान से भरे हुए बाज़ार—
जहाँ सुबह-शाम
चीज़ों का क्रय-विक्रय व्यापार होता है,
तरह-तरह का लेन-देन,
मित्रों का दुआ-सलाम,
और सिनेमाघर के पास दोस्तों व सहपाठियों का इन्तज़ार :
उस पार जाने क्या है !

इस पार नैनीताल का यह दूर-दूर प्रसिद्ध फ़्लैट है,
शिमले का वह मशहूर तिराहा, दिल्ली का कनाटप्लेस,
और समुद्र की प्यारी बम्बई का विख्यात मैरीन ड्राइव –
जहाँ पीठ पर पड़े चित्र-विचित्र पल्लुओंवाली
रंगबिरंगी, झलकदार साड़ियाँ,
सुथरे, सुवासित, मसृण केश-विन्यास,
साँवरे-सफ़ेद, निर्मल दृष्टिपात,
और वे भरे, खिलते, लाल होंठ
जिनके पीछे से
सदाबहार बिजलियाँ लगातार झलक मारती हैं :
उस पार जाने क्या है !

इस पार सधी हुई शिष्टताएँ हैं, रँगी हुई मुस्कराहटें,
और उन ख़ामोश, गहरी आँखों की कोमल-उदास निगाहें
जो देखने वालों की चेतना को उजले रहस्य में गूँथ देती हैं;
माओं की ममताएँ और ममता के आकलन से उठने वाला दर्द,
बालकों की हँसियाँ और हँसियों से फूटने वाला
मासूम वातावरण,
कवियों व चिन्तकों की कल्पनाएँ और उनसे उभरने वाले
मोहक, उदात्त सपने;
इस पार वीरों के त्याग और साहस की कहानियाँ हैं,
बुद्ध का महाभिनिष्क्रमण, गान्धी का बलिदान,
और मानव के अरमान जो पद-पद पर
सीमाओं का लंघन करते हैं :
इसपार छटपटाहट भरी नर की संवेदना है,
उस पार जाने क्या है !

•

जानेवाले से*

तूने क्या सोच, बता, सीखा था
वैसा प्यार करना :
उस माफ़िक हँसना,
वैसे मुस्कराना,
चारों ओर बैठे-उठे, चलते, बात करते
ख़ुशियों का प्रकाश छितराना ?

इस-उस के दर्द की कथाओं को
सुनना व समझना,
दूसरों की चिन्ताओं, व्यथाओं को
चुपचाप बँटाना;
और कभी-कभी भूल
आगत-अनागत के
सारे हिसाबों को,
सभी हानि-लाभों को,
सकरुण उदारता में निज की, निज वस्तुओं की
मूक बलि चढ़ाना ?
तेरे पूत कृत्यों के स्वच्छ वे सलोने फूल
(जाने किस ढंग से)
अब तक दे रहे गन्ध,
तू ही बता तेरी याद कर हम
रोयें या हँसें बन्धु ?

●

* सन्तप्रकृति साहू रामसहायकी यादमें

यह जवाहर-दीप भी ले लो !

यह जवाहर-दीप भी ले लो !
देश के गत औ' अनागत के अधिष्ठाता
ऐ अजर इतिहास ! रक्षा-पुरुष !
यह हमारी साधना का सित नया हीरा
यह हमारा नर-रतन निष्कलुष;
संकटों के तिमिर-प्लावन में चमकता जो
स्थिर, अकम्पित—ज्योति का यह
द्वीप भी ले लो !

सौम्य, कोमल, शिष्ट भी मन का बड़ा मानो
शीश गर्वीला गगन से मिला,
द्रोह-दहते विश्व के आशा-क्षितिज पर जो
स्नेह-मैत्री का अमृत ले खिला;
देख उर-आँखें जुड़ा जातीं जिसे जन की
वह हमारा चाँद
शोभाशीत भी ले लो !

वीर-विद्रोही कि जो साम्राज्यशाही के
ढा गया दृढ़ द्वार चौड़े क़िले,
धीर, जिसके मन्द्र-धन स्वर की चुनौती से
अनय के सौ बुर्ज ऊँचे हिले;
त्रस्त, उत्पीड़ित जनों का सुहृद, निर्भय बन्धु
मनुज-गौरव का अचल
उद्गीथ भी ले लो !

लक्ष जन के विलष्ट-चिन्तित मुखों को तकते
सोच-डूबे, स्निग्ध-गीले नयन,
आँकते इतिहास की गति बुद्धि-मन उद्विग्न
शान्तिपथ-निर्देश करते वचन;
यह हमारे बोध-वाणी-कर्म का नूतन
स्वच्छ संगम, दृष्टियों का
तीर्थ भी ले लो !

काल-नर ! ये युग-क़दम, शतियाँ विवर्त्तन को
नित तुम्हारी हों शुभालोकित,
इसलिए शुचि बुद्ध-गान्धी, विमल प्रियदर्शी
औ' कृती अकबर किये अर्पित;
घृणा की कालौंछ से निर्मुक्त, शीलोज्ज्वल
यह जवाहर-अर्चि
ज्योतिस्फीत भी ले लो !
यह मणि-दीप भी ले लो !

पाठक कृपया पृष्ठ २९, पंक्ति ११ में 'मिस्र' के स्थानपर 'मिश्र' तथा पृष्ठ ४३, पंक्ति ६ में 'ग्रास करे' के स्थानपर 'न ग्रास करे' पढ़ें।

प्रथम पंक्तियोंका अनुक्रम

●●

अन्य कविताएँ